226

व्यासपर्व

दुर्गा भागवत

•

भारतीय ज्ञानपीठ
प्रकाशन

ट.बै ८६३५

015: 1A2
BHA
1973 A.D.

इ.पु.
१०६

सर्वसुलभं

भारतीय विद्या प्रकाशन
कचौड़ीगली, वाराणसी

व्यासपर्व

*

मूल

दुर्गा भागवत

अनुवादक

वसन्त देव

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक : ३४५
सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रथम संस्करण : फ़रवरी १९७३
मूल्य : आठ रुपये

व्यासपर्व

(ललित निबन्ध)

दुर्गा भागवत

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/४५-४७, कनॉट प्लेस, नयी दिल्ली-१

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

©
BHARATIYA JNANPITH
B/45-47, Connaught Place, New Delhi-1

Price : Rs 8·00

VYASPARVA : ESSAYS : DURGA BHAGAWAT

अनुक्रम

प्रस्तावना	१
पूर्णपुरुष कृष्ण	१९
राई के तड़के की लपट	२५
जकड़े हुए क्षितिज	३१
खोयी व्यक्तिरेखा का मनुष्य	३९
एकाकी	४९
परीकथा से यथार्थ की ओर	६२
मुक्त पथिक	७४
जब आँसू खो जाते हैं	८७
मनुष्य में विलीन मनुष्य	९६
कामिनी	१०३
परिशिष्ट	११६

प्रस्तावना

महाभारत भारतीय जनमानस की दृष्टि से कितना बड़ा आधार बन कर रहा है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु आधार को ग्रहण करने की पद्धतियाँ अलग-अलग हैं। मुझे तो यही लगता है। अधिकांश लोगों की दृष्टि में महाभारत कौरव-पाण्डवों की अतिशय विस्तृत, तारतम्यहीन तथा संकीर्ण नीतिकथा है। अनेक व्यक्ति निजी प्रतिष्ठा के ख़याल से कहानी के शुद्ध कहानीपन के प्रति रुचि नहीं दिखा पाते; जो ललित साहित्य में रुचि रखते हैं, वे महाभारत के अललित विस्तीर्ण अंशों के कारण महाभारत को कथा के रूप में स्वीकृत नहीं कर पाते। संस्कृत काव्य के कालिदासी शौक़ीनों को यहाँ ललित साहित्य का शिल्प तथा काव्य का सहज मधुर भाव ढूँढ़ कर भी नहीं मिलता। दुर्भाग्य से हमारे पुरातन संस्कृत काव्य-साहित्य की परख करने का हमारा एकमेव निकष कालिदासी अभिरुचि का रहा है, अतएव लालित्य के निकष के आधार पर—अभिजात सौन्दर्यग्राहकता, कलात्मकता तथा साहित्यिक मूल्यों के निकष के आधार पर—महाभारत जैसे विशालकाय, खुरदुरी, प्रकट रूप में अनेक हाथों से रची और अनेक कालखण्डों में विभाजित कृति का आस्वाद तो दूर रहा, सामान्य दृष्टि से देखना तक साहित्य की व्यावहारिक समीक्षा को स्वीकृत नहीं हुआ। यही कारण है कि धारणाशील दार्शनिकों ने, पण्डितों तथा राजनीतिज्ञों ने काव्य-समीक्षा के प्रतिकूल प्रतीत होने वाले अंग को अनदेखा कर दिया और अन्य यशोदायी धारणाओं को धारण कर अपनी रुचि के जीवन-क्षेत्र के समर्थन के उद्देश्य से महाभारत का अर्थ लगाया। इस का फल यह हुआ कि अनेकानेक क्षेत्र आलोकित हो उठे, विचारों के क्षितिज विस्तीर्ण हुए, संस्कृति की इयत्ताएँ फैलीं परन्तु महाभारत के काव्यमय भाव मुँद गये, मुँदे ही रहे।

अनेक विद्वानों को महाभारत श्रीमद्भगवद्गीता की मंजूषा प्रतीत होती है; ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि इस में कोई अतिशयोक्ति है। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में भारतीय युयुत्सु राष्ट्रवादी विचारधारा के कारण महाभारत, शीर्षक की वजह से, आपाततः भारतीय राष्ट्रीय चिन्तन का प्रतीक बन गया है। यह भी सत्य है कि मदनलाल धींगरा जैसे कई शहीदों ने भगवद्गीता को हाथ में रख कर आनन्दपूर्वक फाँसी का फन्दा पहना है। गोपालनन्दन ने गीता में उपनिषदों का नवनीत पाया है। श्रीमच्छंकराचार्य

ने सर्वप्रथम गीता का उद्गान किया। तभी से गीता को वेदान्त की वाणी माना गया। ज्ञानेश्वर ने गीता में अपनी स्फूर्ति का क्षेत्र और जीवन का सूत्र खोजा। इस के बाद किसी ने गीता में ज्ञानयोग पाया, किसी ने कर्मयोग, तो किसी ने अनासक्तियोग। किसी को गीता में भक्तियोग दिखाई पड़ा। गीता सब प्रकार के कर्मानुसन्धानी तथा योगानुसन्धानी आधुनिक विचारकों के लिए दैवी माता बन गयी। गीता के 'दैवी संगीत' को भी कुछ लोगों ने सुना। तात्पर्य यह कि ज्यों-ज्यों यन्त्रयुग की गति और दबाव बढ़े, गीता की ख्याति भी बढ़ चली। उस की आवश्यकता बढ़ी तो उस के तेज में वृद्धि हुई। मेरी समझ में इस का कारण यह है कि पिछले पचास वर्षों में युद्ध-ध्वस्त विश्व में अमर श्रद्धा-स्थानों की खोज बुद्धिवादियों द्वारा जिस प्रकार की गयी है, उस प्रकार पहले कभी नहीं की गयी थी। मानवता के पैरों तले की धरती खिसकती जा रही है और सम्पन्नता के क्षणों में विनाश के बादल सारी संस्कृति को डुबा देने के लिए उठ रहे हैं—इस स्थिति की तुलना पुराण-कथाओं के मात्र एक प्रसंग से ही की जा सकती है। वह प्रसंग है भारतीय युद्ध का। अतः श्रान्त और भ्रान्त मनुष्य के लिए छोटी-बड़ी आपत्ति-विपत्ति के हर क्षण में मार्गदर्शन करने वाला श्रेष्ठ धर्मग्रन्थ है गीता—यह धारणा अस्वाभाविक नहीं मानी जा सकती। चूँकि वह धर्मग्रन्थ महाभारत में निबद्ध है, इसीलिए महाभारत की महत्ता जीवित रही और उस में उपलब्ध कौरव-पाण्डवों की कथा का अन्य उपकथाओं के सम्भारसहित जीर्णोद्धार हुआ।

देश-विदेश में भी महाभारत का सूक्ष्म अध्ययन काफ़ी परिमाण में हुआ। महाभारत के रचयिता ने अपनी कृति को इतिहास कहा है। अतः अध्येताओं ने उस के माध्यम से प्राचीन इतिहास की समस्त शाखाओं का अनुसन्धान किया। राजनैतिक इतिहास, धर्मशास्त्र का इतिहास, दर्शन का इतिहास, सामाजिक इतिहास, भौगोलिक इतिहास, वांशिक इतिहास, भाणिक इतिहास, चरित्रेतिहास—सब प्रकार के इतिहासों की शाखाओं को विद्वानों ने महाभारत के पुरातन ग्रन्थ-वृक्ष से अपनी इच्छानुसार तोड़ लिया है और इस श्रद्धा से कि हमारी शाखा ही महाभारत का सार प्रस्तुत करती है, अपने-अपने विषयों की मीमांसा की है। महाभारत का विषयानुसार अध्ययन कोई ग़लत अध्ययन नहीं माना जा सकता। उस के विशाल आकार और अजीब पेचीदा बुनावट को देखते हुए प्रतीत होता है कि एक-एक विषय का जो अनुसन्धान भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा, विभिन्न युगों में विभिन्न दृष्टिकोणों से हो चुका है वह भी ठीक ही है। फिर भी इस में सन्देह नहीं कि महाभारत की सुसज्जित समग्रता का उद्घाटन ही उस के अन्तरंग के पृथक्करण का प्रथम और अन्तिम उद्देश्य होना चाहिए। अब तक जो अध्ययन प्रस्तुत किये गये हैं, वे शायद उस की समग्रता को ध्यान में रख कर नहीं किये गये। महाभारत के किसी एक अंग का उद्घाटन उस के सामर्थ्यपूर्ण तथा सौन्दर्यशाली केन्द्र का सम्पूर्ण उद्घाटन नहीं हो सकता। उपर्युक्त विविध अंग महाभारत के सामर्थ्य का निःसंशय विश्वास दिला जाते हैं; उस की यौगिक भूमिका की प्रतीति कराते हैं।

हमें ज्ञान की विदग्धता का तत्काल अनुभव होता है। मानवीय व्यवहार की जटिलता का अनुमान हो जाता है। दैवगति की वक्रता हृदय को कँपा देती है। कथा का प्रबल प्रवाह विश्वसनीय प्रतीत होता है। आद्योपान्त हम भूल नहीं पाते—पात्रों के परिमाण की विलक्षण विशालता। महाभारत के सामर्थ्य का अन्य प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु महाभारत का सौन्दर्य उस के मात्र उत्तुंग बलावेग में नहीं है। स्थूल सामर्थ्य से अति सूक्ष्म, अभेद्य है एक कोमलता का कन्द जो काव्यच्छन्द की दृष्टि से, कथा के लालित्य के अनुषंग से महाभारत के कठोर कवच के भीतर भरा है। भव्य प्रस्तर मूर्ति के मुख पर जो कोमल मानवीय भावछटा दिखती है, वही कोमल छटा महाभारत की नाट्यमय महाकथा के अंग-प्रत्यंग में भरी है—यदि हम यह साक्षात्कार कर पाते हैं, तभी महाभारत को कलाकृति के रूप में समझ सकते हैं। अन्यथा, वह अध्येताओं को भरपूर गीला-सूखा चारा देनेवाली अनुपम चरागाह है—उस का यही औपयोगिक मूल्य सिद्ध होता है। वह मूल्य चाहे व्यावहारिक ज्ञान की दृष्टि से हो, तत्त्व-निष्कर्ष की दृष्टि से हो, नीति-समर्थन की दृष्टि से हो, चाहे आध्यात्मिक आवश्यकता की ग़रज़ से हो।

यहाँ भी एक अनिवार्यता है ही : भारतीय संस्कृति का अध्येता कभी न कभी इस गहन क्षेत्र में घुसता ही है। नदी समुद्र की ओर दौड़ती है, इसी प्रकार सामाजिक शास्त्र की शाखाएँ ऐतिहासिक यात्रा में मुड़ती हुई, लड़खड़ाती हुई, दौड़ती हुई महाभारत में जा मिलती हैं। महाभारत को अनदेखा कर सामाजिक आशय का सम्यक् स्वरूप पहचानना अथवा विशद रूप में समझाना असम्भव है। अन्य जनों की भाँति मैं ने भी इस निबिड़ प्रदेश में प्रवेश किया, प्रवेश करना ही पड़ा। अन्य जनों ने क्या अनुभव पाया मैं नहीं जानती; परन्तु मुझे लगा किसी ने मुझे बन्द कर दिया है। लगा, जैसे इस गहन विद्यारण्य में मैं राह भूल गयी हूँ। मैं खूब भटकती रही। ग्रन्थ की कीर्ति के बोझ तले साँस लेना तक दूभर था। मैं ने महाभारत उठाया था पहली बार एक पुराना सन्दर्भ ढूँढ़ने के लिए; अपने एक कथन को वज़न देने के उद्देश्य से, पुष्टि देने के लिए व्यास के नाम का, उन की कृति का मात्र उपयुक्तता की दृष्टि से प्रयोग करना चाहा था। महाभारत का प्रयोग करते समय मैं जानती थी कि उस की पुरातन गन्ध, प्राचीनता का भारी भार, भाषा का आडम्बर आदि को झेल पाना मेरे बस का रोग नहीं है। मैं तो केवल एक प्रमाण की खोज में उस के पृष्ठ पलटती थी। बचपन से पाण्डवों की कथा सुनती आयी थी, इसलिए अनुभव होता था कि कथा के धागे और डोरे सन्दर्भ के अनुसन्धान में अड़चन पैदा करते हैं। और अड़चनें हैं इसी लिए तो महाभारत के उल्लेखों, प्रमाणों का महत्त्व माना जाता है—अध्ययन की परम्परा विषयक यह धारणा मेरे मन में बराबर बनी रही और इसी वजह से मैं ने, आवश्यकता हो, न हो, समय-असमय सन्दर्भ खोजने की आदत बलपूर्वक डाली। यह शौक़ भी आख़िर शौक़ ही था, सतही। सन्दर्भ खोजते-खोजते पसीना आ जाता, वह मिल

जाता तो मैं मुक्ति की साँस ले कर पुस्तक बन्द कर देती । 'मैं ने महाभारत देखा है' का नशा भी पूरा हो जाता और चूँकि सन्दर्भों की खोज का परिश्रम बाँझ परिश्रम ही था, इसलिए मानसिक थकान घेर लेती । मन प्रश्न करता : क्या आवश्यकता है निष्फल परिश्रम की ? चतुर मन तत्काल व्यावहारिक और कामचलाऊ उत्तर देता : 'तगड़े-तगड़े पण्डितों ने यही किया है; वही तू कर; बग़ैर इस के मुक्ति नहीं है ।' फिर मैं ने चुपचाप महाजनों के पन्थ पर चलने का फ़ैसला किया । अब क्रम यह था कि जब ज़रूरत होती तब देखती, काम हो जाता तो पुस्तक रख देती और जब तक ज़रूरत न पड़ती, पुस्तक न खोलती । परन्तु ज़रूरतें बढ़ीं, बढ़ती गयीं और फिर पुस्तक लगातार हाथ में रहती, अलग करना असम्भव हो गया । व्यावहारिक आवश्यकताएँ अब अधिक सही तरीक़े से पूरी होतीं । नयी तफ़सीलें समझ में आतीं । अध्ययन का फल सामने दिखाई पड़ रहा था । क्या कहूँ, फलसिद्धि का यही क्षण मेरे मन में असन्तोष और अश्रद्धा की ज्वालाएँ जगाने वाला सिद्ध हुआ । अनजाने, महाभारत के आख्यानकों के कुछ अंशों ने मुझे बेचैन कर दिया । जहाँ तक उस का समाजशास्त्रीय प्रयोजन था, मैं सौ फ़ीसदी समझ चुकी थी । पर, थका-हारा जीव कथाओं का आश्रय ढूँढ़ता है; श्रम-परिहारार्थ कहानी अपनेआप पास आ जाती है । अतः जब मैं विश्राम की, काव्यशास्त्र-विनोद की आवश्यकता से कथानक की ओर मुड़ी तो मैं ने मात्र सामान्य कहानी को बचकाने ढंग से ढूँढ़ना शुरू कर दिया । मैं चाहती थी कहानी, सीधी-सादी, उतार-चढ़ाव वाली मनोरंजक कहानी । जो मैं जानती थी लेकिन इस बार बुजुर्गों के मुँह से नहीं सुनना चाहती थी । बच्चों की किताबों में नहीं पढ़ना चाहती थी । कहानी मुझे व्यास के मुख से सुननी थी; और अपेक्षा यह थी कि अपने मन में मैं ने कहानी को जैसे गढ़ा है, व्यास उसे उसी रूप में, उसी अभिनिवेश में कहते चले जायें ! क्या बताना होगा कि पढ़ते समय यह अपेक्षा चूर-चूर हो गयी ?

भीष्म का शर-शय्या पर पौढ़ना कथा की और भीष्म नामक पात्र की दृष्टि से उचित ही था । क्यों उन की मृत्यु को तत्काल बुला कर उसे समाप्त नहीं किया गया ? उन के मुख से शान्तिपर्व की अविश्वसनीय कहानियाँ क्यों सुनायी गयी हैं ? मोक्षधर्म और राजधर्म के क़िस्से वहाँ क्यों रचे गये हैं ? खैर, रच दिये हैं तो वही सही; फिर भी उन के मुँह से गणराज्य की निन्दा, नारी का अपमान क्यों कराया गया है ? गणराज्य के निन्दक भीष्म और गणराज्य के आदर्शानुसार संघ-रचयिता गौतम बुद्ध, दोनों में से किस की धारणाएँ अधिक उन्नत हैं ? युद्ध का क्षण उपस्थित है और श्रीकृष्ण को गीता सुनाने की आन्तरिक प्रेरणा हो रही है, क्यों ? अर्जुन श्रीकृष्ण का सखा है; उस के हृदय के विविध सम्मोहों का पता श्रीकृष्ण को पहले क्यों नहीं चल पाया ? रणभूमि में खड़े-खड़े अठारह अध्यायों में जो कहा गया है, क्या अलग-अलग अवसर पर आराम से घर बैठे नहीं कहा जा सकता था ? षड्यन्त्र और पाण्डवों के प्रति पक्षपात, श्रीकृष्ण का इस से अधिक प्रयोजन ? ये और ऐसे ही

नाना प्रश्न मेरे सामने उपस्थित हो गये। तभी शिकायती आवाज़ भी उठी कि कथा के सूत्र को अनेक दूरान्वयी अंशों ने शिथिल कर दिया है। कथानक को कुण्ठित कर दिया है। आन्तरिक भावनाओं के उफान को दबा दिया है। फिर प्रश्न यह आया : क्या इन अगणित अतिरिक्त सामाजिक तथा दार्शनिक साहित्य के सम्मिश्रण ने मूल सँकरी और स्खलित कथा की प्रतिष्ठा बढ़ायी है अथवा जो कथानक अन्यथा सुश्लिष्ट तथा साहित्यिक गुणों से परिपूर्ण होता उसे अवान्तर फैलाव ने चौपट कर दिया है? जब कथानक को ले कर इन प्रश्नों के भँवर मन में घूमने लगे तो कथानक तलान्त तक मथा गया। फेन और कीचड़ घुल-मिल गये। बचपन में हृदय में अंकित मूल सीधी कथा अपने भावनामूलक निथार को गँवा बैठी। एक प्रकार का गँदला अँधेरा, कथा के प्रसंग-प्रसंग में, व्यक्ति-व्यक्ति को आकारहीन बनाता हुआ सब ओर छा गया। परम्पराश्रुत व्यक्तिरेखाएँ इस धुमैले अँधेरे में डूब गयीं। अँधेरे में हम आँख फाड़ कर देखते हैं; मैं ने फिर कथानक के आकृतिबन्ध के स्थान पर व्यक्तिरेखाओं का सहारा ले कर लालित्य की आहट लेने की कोशिश की। फल? प्रसंग के अनुषंग से जो व्यक्तिदर्शन पाये वे ऐसे थे : प्रत्येक व्यक्ति अपने साँचे से पक्का चिपका हुआ है; ऐसा जैसे धातु का निखरा हुआ पुतला हो। लगा जैसे विमुक्त वातावरण में विचरण करने वाले सजीव व्यक्तियों के स्थान पर व्यास ने इन्हीं रेखाबद्ध कठपुतलियों का नाच अत्यन्त चपलता से भव्य मंच पर कराया है। उन्होंने पहले तो एक-एक पात्र का रूप निश्चित किया और फिर प्रसंगों को गूँथ कर एक विशिष्ट व्यक्ति को पक्की पूरी तरह बना कर रख दिया। भीष्म अन्त तक अविवाहित रहे; अधिकार-त्याग की प्रतिज्ञा कर चुके हैं। प्रतिज्ञापूर्ति का नशा जमाने के लिए ही जैसे अपनी इच्छा की प्रतिष्ठा को लगातार बढ़ाने में मग्न हैं! शर-शय्या का अनुपम इच्छामरण स्वीकारते हैं। द्रौपदी—रूपगर्विता द्रौपदी! ठान ले एक बार तो अन्त तक हटने वाली नहीं है। भीम कौरवों पर जलता रहेगा; अर्जुन लड़ता ही रहेगा। युधिष्ठिर का चिन्तन कभी समाप्त नहीं होता; विदुर दूसरों में अपने को देखना नहीं भूलते। दुर्योधन विद्वेष नहीं छोड़ सकता; कर्ण ऐंठन नहीं तोड़ सकता। कुन्ती अपनी खिन्नता नहीं त्याग सकती और कृष्ण निर्घृण व्यवहारपटुता नहीं छोड़ सकते। कोई कुछ भी छोड़ने को तैयार नहीं है। ज़िद्दी बच्चा जिद की पोटली सीने से चिपका लेता है, इसी प्रकार यहाँ हर व्यक्ति कोमल भाव के प्रतिकूल अपना रूखा देह-स्वभाव चिपटाये हुए है तो फिर व्यास क्या करते? समस्त पात्रों का उद्धार करने का एकमात्र उपाय यह था कि वे नीति, तत्त्व-बोध, विविध प्रकार का ज्ञान समय-समय पर कथा में घुसेड़ देते और जो मूल्य समाज में प्रतिष्ठा पा चुके हैं, उन की सहायता से कथा की प्रतिष्ठा बढ़ाते। यह विचार मन में रख मैं ने नैतिक मूल्यों तथा ज्ञानाविष्करण का सूक्ष्मता से निरीक्षण करना आरम्भ किया। आदिपर्व विविध कथाओं से सम्पन्न है; उपकथानकों की सजावट इतनी सुन्दर और मोहमयी कि उस के सामने कौरव-पाण्डवों

का कथानक एकदम फीका लगता है। पुरुरवा की कथा, गरुड़ की कथा, ययाति की कथा, शकुन्तला की कथा, भीष्मजन्म की कथा—सारी कथाएँ सम्पूर्ण और रोमहर्षक ! रोमहर्षण के सम्मोहन द्वारा व्यास मुझे भटका तो नहीं रहे हैं न ? मैं ने किंचित् निःशंक भाव से सभापर्व में प्रवेश किया। यह पर्व राजनीति, षड्यन्त्र, कूटनीति द्यूत आदि के कटु परिणामों का विवरण देता है। वनपर्व सावित्री, धर्मव्याध आदि परम सुन्दर आख्यानकों से सजा है और इस में सन्देह नहीं कि इन दूरस्थ कथानकों ने भरपूर माधुर्य संयोजित किया है। सभापर्व के विषय में ऐसा नहीं कह सकते। झगड़ा, वाद-विवाद, उलटे-सीधे तेवर, समारोह और राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा का निर्मम विदारक रूप ही सामान्यतः प्रकट हुआ है। फिर भी दो पंक्तियाँ पढ़ कर मैं ठिठक गयी, लगा जैसे कुछ हाथ आ गया है। पंक्तियाँ अत्यन्त सामान्य हैं, उन में किसी प्रकार का उत्कट भाव नहीं है। प्रसंग है : पाण्डवों के यहाँ से चलते समय श्रीकृष्ण सुभद्रा से विदा ले रहे हैं—

सार्थं तथ्यं हितं वाक्यं प्रियं युक्तमनुत्तरम्।
उवाच भगवान् भद्रां सुभद्रां भद्रभाषिणीम्॥

इन पंक्तियों के अनुप्रास से अधिक ताल से मैं प्रभावित हुई। अनायास वे मुझे याद हो गयीं, मन में चक्कर काटने लगीं और एक नया शौक़ पैदा हुआ : श्रीकृष्ण-मुख से निःसृत नादमय शब्दों के परीक्षण का। श्रीकृष्ण ने अर्थपूर्ण, कल्याणकारी, उचित, प्रिय और ऐसा जिस का कोई उत्तर दिया ही नहीं जा सकता वचन कहा। सुभद्रा मंजुभाषिणी थी। उस के साथ सम्भाषण करते समय श्रीकृष्ण ने भाषण-सौष्ठव का कीर्तिमान् स्थापित किया। इस का अर्थ यह हुआ कि उत्कट प्रसंगों में उन की वाणी अधिक श्रवणीय हो जाती होगी। गीता उन्होंने इसी ठाठ में कही है। और तब गीता के प्रवचन में मुझे तरह-तरह के सुश्राव्य नादों के आवर्तन सुनाई पड़ने लगे। गीता जैसी श्रवणसुभगता दुर्लभ है; अपवाद : वैदिक ऋचाएँ ! यहीं व्यास की शैली का सौभाग्य प्रतीत हुआ और श्रीकृष्ण की वाणी की झंकृति अधिक स्पष्ट हो उठी।

इस से इतना ही हुआ कि जो अपाठ्य था, वह सुपाठ्य हो गया, रूखा था सो सरस हो उठा, परन्तु इस से अधिक घनिष्ठता न हो पायी। फिर एक अपूर्व दिन उगा। मैं सभापर्व में थी। राजसूय-यज्ञ, मयसभा की चकाचौंध से आँख खुल न पा रही थी। द्यूत में हार जाने के बाद पाण्डव हतप्रभ हो चुके थे। वे अब दास थे और रजस्वला द्रौपदी आक्रोश कर रही थी। विडम्बना के उस क्षण में द्रौपदी ने अनजाने, आवेग के प्रवाह में, सत्य के उस मूल मानवीय आधार को स्पर्श किया जिसे समस्त कलाएँ, समस्त धर्म सदैव ढूँढ़ते हैं और ढूँढ़ने पर ही सत्त्वशील कहलाते हैं। वह श्लोक शत-शत नादसहित गूँज उठा मेरे मन में। सीधी-सादी रचना है। नहीं है अनुप्रास का अवगुण्ठन, नहीं है उपमा-उत्प्रेक्षाओं की सजावट। परन्तु भरा है बुद्धिमानों, ज्ञानवानों

और धर्मज्ञों के अनुभव का सार-सर्वस्व। सत्य की परिभाषा करता हुआ, तीव्र स्वर में कहा गया और निर्वच कर देने वाला श्लोक—

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः
न ते वृद्धाः ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र च नास्ति सत्यं
न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्॥

श्लोक मैं ने पढ़ा और तत्क्षण जिन भावान्दोलनों को अनुभव किया, उन्हें पहले कभी, सुगम काव्य पढ़ कर भी, नहीं किया था। वह एक भावातीत भावानुभव था। मैं आज भी वर्णन नहीं कर सकती कि उस का क्या निश्चित स्वरूप था। परन्तु इन चार पंक्तियों ने मुझे महाभारतकार की प्रतिभा का साक्षात्कार कराया। बन्दिशें टूट गयीं और नयी किरणें नये भावों को जगाती हुई आयीं। तब द्रौपदी मुझे दूसरे ही रंग में रँगी दिखाई पड़ी; कृष्ण नये बन कर दिखाई दिये। इन दोनों पर ध्यान केन्द्रित किया; यद्यपि पुरातन अचलकथा ज्यों की त्यों रही, परन्तु पात्रों का परिमाण, उन की आकृतियाँ और समग्र कथा में उन का प्रयोजन मुझे दूसरे सन्दर्भों में दिखाई पड़ा। एक व्यक्ति के बाद दूसरा व्यक्ति उठा और सजीव हो कर अपने मान-सम्मानसहित संचरण करने लगा। मैं कान दे कर उन के सम्भाषणों के टुकड़े बटोरने लगी। मैं ने पाया नाट्य, नाट्य के बाद नाट्य, प्रत्येक प्रसंग में मात्र नाट्य। शिल्प कविता का, ताल छन्द का परन्तु आत्मा नाट्य की—समग्र कृति मुझे इसी रूप में दिखी। कथा में उपकथा सजाने वाली कृति को पारिभाषिक भाषा में परिमण्डल-कथा कहा गया है। बृहत्कथा, अरब देश की सरस कथाएँ उसी के अन्तर्गत आती हैं। बृहत्कथा ने अपने सामने महाभारत का आदर्श रखा था लेकिन बृहत्कथा महाभारत के अन्तरंग की अनुकृति को प्रस्तुत नहीं कर पायी। एक बड़ी कथा में असंख्य छोटी कथाओं को घुसेड़ कर वह महाभारत की मात्र स्थूलता ही ले पायी। छन्दोबद्धता भी ली गयी। फिर भी गुणाढ्य उन रुचिर नाट्याकृतियों की तह में नहीं जा पाये जिन से महाभारत का अन्तरंग आच्छादित है। व्यास ने बड़े नाट्यबन्धों में छोटे नाट्य-प्रसंग ठूँस-ठूँस कर भरे हैं; इसी कारण महाभारत एक सघन कृति बन पायी है। और नाट्य भी कुछ इस तरह भरा गया है कि उस के रचना-विधानगत सिद्धान्त कहीं दिखाई नहीं पड़ते। नाट्यभाव व्यक्त होता है सम्भाषणों में और द्रुत कार्यों में। प्रकट है कि ऐसी कृति अनुकरण-सुलभ नहीं होती। यही वजह है कि उत्तरकाल में रामायण पर आधारित जितनी सुगम नाट्यरचनाएँ मिल जाती हैं, उतनी महाभारत पर नहीं मिलतीं।

व्यास की नाट्य-धारणाप्रवृत्ति और निवृत्ति के सन्तुलन पर आधारित है। व्यास ने इतनी उदारता दिखायी है कि दृश्य-दृश्य में, विविध रंगों, छटाओं, नादों में,

कभी वर्णनों, सम्भाषणों और कभी मात्र संकेतों में नाट्यान्तर्गत नाट्य विद्यमान है। उसे कुछ ऐसी लापरवाही से, जहाँ इच्छा हुई वहाँ, बिखरा दिया गया है कि वह पग-पग पर अपना अस्तित्व दिखाता चलता है और दर्शक को क्षण भर रोक लेता है; और अगर दर्शक को वह महीन काम देखने की फ़ुरसत नहीं हो तो वह तमाम उबा देने वाले अंशों को लाँघ कर सीधे प्रमुख प्रसंगों से भी उलझ सकता है।

व्यास का अनुपम नाट्यावधान जिस रूप में प्रकट हुआ है, वह रूप और पद्धति बहुत नाज़ुक है; सूक्ष्म व तरल है। नाट्य कभी अत्यल्प शब्दों में और कभी सूत्रमय शैली में आविर्भूत होता है। भाषा, भाव, रंग और रस की मितव्ययता के बावजूद इन सब के संगुम्फन द्वारा भव्य भावानुभूति को निष्पन्न करने की कला महाभारत में विपुल परिमाण में मिलती है। इन प्रसंगों में सम्बन्धित पात्रों का व्यक्तिगत भाव, अनजाने, वक्र व विरोधी स्वर पर ज़रा झुक कर स्थिर हो जाता है। विदुर का ही उदाहरण लीजिए। प्रसंग: स्वयंवर जीत कर पाण्डव पत्नीसहित इन्द्रप्रस्थ लौटते हैं। लाक्षागृह के दहन में पाण्डवों के भस्मीभूत हो जाने की ख़बर हस्तिनापुर में पहले ही फैल चुकी है। अन्धे धृतराष्ट्र की भी यही धारणा थी। एक ओर वे लज्जित थे और दूसरी ओर अन्धे वात्सल्य ने उन्हें सुख भी दिया था। पर सम्राट् ठहरे, अतः दिखाने भर की खातिर वे बड़ी गम्भीरता से उदास दिख रहे थे। विदुर से सूचना मिली पाण्डवों के आते ही कि वे द्रौपदी को जीत लाये हैं—सूचना सीधे-सादे ढंग से नहीं मिली। उपहास का पुट ले कर ज़रा तिरछा मोड़ ले कर ख़बर धृतराष्ट्र के कानों तक पहुँचती है। सदा शान्त, दान्त, भ्रातृप्रेमी सेवक बने रहने वाले विदुर नित्य की भाँति सीधा निवेदन नहीं करते कि पाण्डवों के भस्म हो जाने की खबर झूठी साबित हुई; वे लाक्षागृह से बच निकले और ब्राह्मणवेश धारण कर द्रुपद के दरबार में पहुँचे; वहाँ स्वयंवर में अर्जुन ने शर्त जीती और कुन्ती के आदेश से द्रौपदी पाँचों पाण्डवों की पत्नी बन गयी। वे ऐसा कुछ नहीं कहते। विदुर के हृदय को लाक्षागृह की अमानुषिकता बुरी तरह साल रही थी। बहुत आनन्दित हुए विदुर दुर्योधन की फ़जीहत की ख़बर सुन कर! तीव्र कटुता और एक विचित्र आसुरी आनन्द के आवेग को उदारमना विदुर भी एकदम संवरण नहीं कर सके। यही नहीं, जीवन में पहली बार धृतराष्ट्र की अपंगता का लाभ उठाते हुए उन्होंने धृतराष्ट्र को उस के बेटे के कार्य को ले कर चोंच मार कर तमाशा देखा—यह क्षणिक व हीन सुख विदुर को अति तुच्छ धरातल पर ला पटकता है। व्यास ने इस प्रसंग को यों रचा है:

द्रौपदी द्वारा पाण्डवों के वरण की और धृतराष्ट्र के पुत्रों की फ़जीहत तथा गर्वहरण की खबर पाकर विदुर मन ही मन प्रसन्न हुए और सम्राट् धृतराष्ट्र से बोले, "कौरवों का कल्याण हो।" इतना सुनना था कि धृतराष्ट्र विस्मित हो उठे और आनन्दित हो कर बोल पड़े, "अच्छा हुआ, अच्छा हुआ!" उन्हें लगा, द्रुपद-कन्या ने दुर्योधन को वरमाला पहनायी है। आँधरा बेचारा क्या जाने! उस ने द्रौपदी की

खातिर अनेक आभूषण मँगवाये। कहने लगा, "कृष्णा और पुत्र दुर्योधन को बुलाया जाये।" विदुर अब कहते हैं कि द्रौपदी ने पाण्डवों का वरण किया है, पाण्डव सकुशल हैं और द्रुपद ने उन वीरों का यथोचित सम्मान किया है। धृतराष्ट्र कहते हैं, "वे पाण्डु के पुत्र हैं, मेरे लिए तो वे उन से अधिक मेरे बेटे हैं।"

प्रसंग इतना ही है। कितनी और कैसी-कैसी चोटें की गयी हैं! कौरवों पर भीम द्वारा किये गये असंख्य वाक्प्रहारों से जो नहीं सध सकता था, वह तमाम शल्य कटुतम गरल हो कर विदुर के मुख से निकल रहा है। विदुर पर क्षण भर जो छाँह आ पड़ती है, व्यास ने उसी के माध्यम से नाट्यात्मक कलानिष्पत्ति सिद्ध की है। पाण्डवों की सफलता, लाक्षागृह में उन के साथ किया गया अन्याय—केवल उतारे के रूप में इस प्रसंग का उपयोग नहीं किया है व्यास ने। न इस में सिर्फ़ कौरवों को दाग़ दे कर छोड़ दिया है। यह प्रसंग है पाण्डवों के आगामी दुर्धर जीवन का नान्दी-रव। इसी कारण पाण्डवों से कौरवों को तीखे ताने दिलवाने के बजाय व्यास ने यही काम विदुर से सौम्य तथा गर्भित शैली में करा कर औचित्य ही दिखाया है।

एक क्षण में धृतराष्ट्र सीधी-तिरछी भावनाओं का आहार बन जाते हैं; घबराते हैं, सिटपिटाते हैं। 'पाण्डव मेरे लिए पाण्डु से अधिक प्रिय हैं' कहला कर समूचे प्रसंग को जल्दी-जल्दी समेटने का तरीक़ा भी परिणामकारक है। इस प्रसंग में भीरु हृदय के वृत्तिचांचल्य का नाट्य पिरोया गया है। विदारक अवश्य है, पर, वह धृतराष्ट्र के प्रति घृणा उत्पन्न नहीं करता; उलटे, धृतराष्ट्र, उस के बेटे और पाण्डव सब के प्रति एक विशेष प्रकार की करुणा उपजाता है। धृतराष्ट्र हमारी दृष्टि में स्वयं खलपुरुष नहीं हैं; वे ऐसे मनुष्य हैं जो वत्सल पिता की निर्मम नियति ढोता है। विदुर के उत्तरीय में ज़रा सा दाग़ लगा कर, दोष का कण दिखा कर व्यास ने उन्हें भी एक प्रकार से सत्त्व-रज-तम की कसौटी पर कसा है। इसी त्रिगुणात्मक स्वभाव-रचना की असाधारण चेतना के कारण व्यास महाभारत की अगणित व्यक्तिरेखाओं को पल-पल घटित कर्मों के आधार पर उकेर पाये हैं। उन्हें सप्राण कर पाये हैं और हाड़-मांस के मनस्वी व्यक्ति बना पाये हैं। यही कारण है कि उन्हें खलता को एक ही व्यक्ति में ठूँस कर मिथ्या अथवा माने हुए मानवीय आदर्शों को निर्माण करने की बेकार कोशिश नहीं करनी पड़ी। बौद्ध-दर्शन में त्रिगुण-चेतना नहीं है, इसी लिए बौद्ध-साहित्य में बुद्ध मात्र मंगलता के, कल्याण के प्रतीक माने गये और मार स्वाभाविक रूप में अकल्याण तथा पाप का प्रतीक बन गया। बाइबिल में शैतान घुस आया। परन्तु व्यास पग-पग पर यह दिखाते गये कि मनुष्य कितना ही विकासशील क्यों न हो, वह आन्तरिक संघर्ष से बच नहीं सकता; उस के छोटे-मोटे स्खलन यही बताते हैं। उन्होंने इन अनन्त स्खलनों के परिपाक को 'दैव' कहा है और कर्म-गति के दर्शन के आधार पर दिखाया है कि दैव की विराट् लीला में मानवीय जीवन के धागे उलझे हुए हैं। कर्ण, दुर्योधन, विदुर, युधिष्ठिर, अर्जुन, सब के मुख से—यहाँ तक कि श्रीकृष्ण के मुख से

यह कहलवा कर कि 'प्रकृति तुम से करायेगी' महाभारत में स्थान-स्थान पर घोषित किया गया है कि दैव अटल है। दैव विषयक उल्लेखों में और कर्म-परिपाक के अनुषंग से आयी दुर्निवार घटनाओं में निस्सन्देह जीवन का दुखतत्त्व अपने उत्कट रूप में अभिव्यक्त होता है। कभी-कभी तो सांसारिक दुर्निवारता असारता की सीमाओं को छू लेती है। महाभारत की विविध शोकपूर्ण कहानियाँ नाट्यभाव से बता जाती हैं कि संसार का दुख पाप से भी अधिक भयानक है। महाभारत में शोकमूलक भाव की एक असाधारण लय पायी जाती है। महाकाव्य के भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार ललित कृति सामान्यतः आनन्दान्त होनी चाहिए; परन्तु महाभारत की समाप्ति पाण्डवों के स्वर्गमन के साथ होती है। सुखान्तता का नियम नाटक पर ज़रा कड़ाई से लागू किया जाता रहा, परिणामतः महाभारत (व रामायण भी) इस स्थूल नियम से किंचित् मुक्त रहे—यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यों, महाभारतकार तथा उस के पारम्परिक पाठक उसे कभी 'ललित कृति' कह कर सम्बोधित नहीं करते—प्रश्न तो मुझे और मेरे समानधर्मा पाठकों को परेशान करता है जिन्हें वह एक ललित कृति प्रतीत होती है।

महाभारत में शोकात्मता की एक अनन्यसाधारण चेतना है। संस्कृत साहित्य में उस का प्रायः अभाव ही है। यद्यपि भवभूति ने प्राणपण से 'एको रसः करुण एव' कहा था, फिर भी संस्कृत के 'वेणीसंहार' जैसे एकाध नाटक को छोड़ दें तो यही कहना होगा कि करुणभाव क्वचित् ही श्रृंगारिक अभिरुचि को पराजित कर पाया है। यदि करुणभाव अपनी समस्त छटाओं, सम्पूर्ण आकृतिबन्धों तथा सभी कल्पनाबन्धों सहित जीवन की एक-एक कला को स्पर्श कर पाया है तो उस का निर्देश सिर्फ़ महाभारत में हुआ है। महाभारत दैवत्य-कथा से उद्भूत है। उस में कृष्ण के माध्यम से मनुष्यरूपी परमात्मा के दर्शन कराये गये हैं और इस प्रकार दैवत्य-कथा के प्रतीक का निर्वाह किया गया है। पात्रों को दैवत्य-कथा के अनुकूल अतिविशाल परिमाण दिये गये हैं; यही कारण है कि वे हमारी तरह दिखाई पड़ते हैं परन्तु हमारे जीवन में समा नहीं सकते। ये पात्र दैवत्य-कथा के पात्रों की भाँति मनुष्य के भार को, उस के सुख-दुखों को, विचार-विकारों को ढो कर सहज गति से दूर, अनन्त के पार पहुँचाते हैं, और अपनी इस कृति को, कृति की प्रेरणा को 'दैव गति' कह कर पुकारते हैं। चूँकि महाभारत में जीव-जन्तुओं और मनुष्य को एक साथ ले कर रहने वाली विशाल नियति की चेतना बराबर बनी रहती है और कर्म-सिद्धान्त की सरस्वती लगातार प्रवाहित होती है, इसी लिए उस के रचयिता को अत्यन्त विशाल क्षेत्र चुनना पड़ा है। जीवन-मृत्यु के विराट् व सूक्ष्म स्वरूप को, दोनों के बीच विद्यमान स्पर्धाभाव और परस्पर-पूरकता को, अन्तर्गत विरोध सहित रणभूमि में ही दिखाया जा सकता है : अन्य क्षेत्र नहीं दिखाई पड़ता। 'जय' शब्द में ही समस्त संघर्ष, सारी सफलता और विफलता निहित है। और निहित है पौरुष, कर्ममयता, गति, आवेश, ग्लानि, दर्शन, सौन्दर्य,

कुरूपता, उदारता और कार्पण्य। निहित है समस्त भूतमात्र से चिपटा कारुण्य और भयानक विद्वेष, उपहास तक। निहित हैं निनाद 'हा हा हा हा' रुदन के। क्वचित् वासना के छींटे। मूढ़ता, कि आगे क्या होगा ? खेद, कि पहले क्या था ? और निहित हैं मनुष्य की जीवनी शक्ति जो प्रत्येक प्राप्त क्षण से चिपटी रहती है। महाभारत की बीजाकृति में निहित यह सारतत्त्व यदि एक विराट् कृति, ललित कृति का रूप धर कर आविर्भूत होता है तो उसे असाधारण उपलब्धि मानना होगा।

फिर भी शोक-क्रन्दन, क्रूरता, वीर्य और धैर्य के सत्त से रँगी एक-एक पात्र की आकृति मानो अक्षयता का वरदान पा कर अचल हो उठी है। व्यास-प्रतिभा की यह दुखोन्मेष की शक्ति ग्रीक त्रासदीकारों की धारणाओं से अधिक उन्नत, विशाल एवं दूरगामी है। ग्रीक त्रासदियों में पात्रों के विशाल परिमाण मिलेंगे, भूमि विस्तृत होगी, उदात्तता का उत्कृष्ट परिपाक दिखेगा, सौन्दर्य की जागृत चेतना होगी, लहलहाते शृंगार का वैभव दृष्टिगोचर होगा, ऐहिक जीवन की चरम आसक्ति होगी; परन्तु जिस प्रकार व्यास की प्रतिभा मनुष्य स्वभाव के सूक्ष्म आकलन के बल पर सामान्य-असामान्य जनों के छोटे-मोटे दुःखों में भरे नाट्य को उठा लेती है; होमर तक ऐसा नहीं कर पाया। ग्रीक महाकाव्यों में देवताओं का प्रकोप, प्रेम, ईर्ष्या-द्वेष मानवीय कृति के क्षेत्र को संकुचित कर देता है। यहीं हमें दैव-विषयक ग्रीक और भारतीय धारणाओं में पर्याप्त भेद दिखाई पड़ता है। कर्म-सिद्धान्त के साथ कर्ममयता की मर्यादाएँ स्पष्ट हो जाती हैं फिर भी उस का क्षेत्र विशाल और गहन ही रहता है। यही नहीं, यह श्रद्धा कि मानवात्मा कर्म के पार अज्ञात की चेतना पा जग सकती है, सारी निराशा, भीरुता और साशंकता को दूर कर देती है। तब अज्ञात सत्य की प्रतीक्षा की तीव्र व उन्मनस्क उत्कण्ठा सारे व्यवहारों को, भौतिक व्यापारों तथा भावों को, बग़ैर उन का ढाँचा बदले, नये अर्थ से भर देती है। महाभारत हमें इसी कारण औपनिषदिक वचन 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की प्रत्यक्ष तथा काव्यमयी प्रतीति करा देता है। पाण्डवों की मृत्यु के बाद, युधिष्ठिर के स्वर्गसम्मुख उपस्थित होने के बाद हम युद्ध का भीषण परिपाक भूल जाते हैं, कृष्ण को भूल जाते हैं, गीता तक भूल जाते हैं; स्वर्ग के महाद्वार की दरार से नियति जो किरण बिखराती है, हम उस से आलोकित हो कर अनवधानपूर्वक किन्तु सहज कह उठते हैं—

तेजोऽसि मयि तेजो धेहि।

इसी कारण ग्रीक त्रासदी में ज़िद्दी दैव द्वारा जो मानवीय जीवन का सुन्दर शिल्प तुच्छ माना जा कर ध्वंस कर दिया जाता है, जो हमारे हृदय में विफलता उत्पन्न कर देता है, उस का अंश तक महाभारत में नहीं मिलता।

व्यास की धर्मावगुण्ठित कला की यही विशेषता है कि वह गुफा के शिल्प के समान है; वह दर्शकों, पाठकों अथवा श्रोताओं के सामने उन के अनुकूल एक आन्तरिक

विश्व का उद्घाटन करती है। जिस में जैसी पात्रता होगी, जो जैसा देखना चाहेगा, वह वैसा ही और उतना ही देखेगा। यदि व्यास की प्रतिभा क्रान्तदर्शी है तो इस अर्थ में कि वह क्षुद्र, संकुचित, दोषपूर्ण, पापपूरित, कुरूप व्यक्तियों और घटनाओं को सीधे आत्मसात कर लेती है। ऐसा नहीं कह सकते उसे मात्र नैतिकता, सौन्दर्य और भव्यता ही प्रिय है। ऐसी समदर्शिता वही प्रतिभाशाली कलाकार पा सकते हैं जो अपनी रचना को अत्यन्त तटस्थ और अत्यन्त जागृत दृष्टि से देखते हैं। आप चाहें तो इस प्रक्रिया को विश्वरूपदर्शन के प्रतीक में बांध सकते हैं। भले ही नियति का खेल महाभारत की कथा का महत्त्वपूर्ण सूत्र हो और भले ही उस में नियति विराट् और क्रूर बन कर आती हो, फिर भी एक सत्य सतत भासमान हो कर ही रहता है। मनुष्य की भौतिक नियति अन्य जीवों की नियति से भिन्न नहीं है; किन्तु मनुष्य का आत्मिक जीवन तमाम भौतिक आविष्करणों से परे विद्यमान एक चिन्मय शक्ति से बँधा है : महाभारत के दैववाद की तह में यही सत्य दमकता है।

फिर भी इस सत्य का संकेत देते समय, स्थल-कालातीत के सीमान्तों तक पहुँचते समय व्यास को जो सद्यःक्षण पर दृष्टि केन्द्रित करनी पड़ी है, वह उन की विशेषता है; और स्वाभाविक ही है। युद्ध की घटना अत्यन्त अनुकूल कथावस्तु थी। बौद्ध-साहित्य में भी दिखाया गया है कि बुद्ध को शान्ति पाने के लिए मार-सेना से मुक़ाबला करना पड़ा था। युद्ध का प्रतीक प्रत्यक्ष कथा के रूप में व्यास द्वारा इसी प्रकार प्रयुक्त किया गया है। यहाँ भूलना न होगा कि मार-सेना तथा महाभारत के संग्राम के उद्देश्य भिन्न हैं। मार-सेना का प्रयोजन सब प्रकार से आध्यात्मिक है। मार को इसलिए रचा गया है कि बुद्ध का कल्याणकारी, मंगलप्रद शुभ स्वरूप पाप, मोह और क्रूरता के रूप से एकदम अलग दिखाया जा सके। भारतीय युद्ध को कथा के केन्द्र में रखते समय व्यास को कथात्मक मूल्य आध्यात्मिक मूल्यों से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुआ। युद्ध के सम्यक् दर्शनों से और कथा और पात्रों के स्वभाव में अतिशय अभिज्ञता से भरे युद्ध के सत्त से तो यही प्रमाणित होता है। व्यास की करुणा और शोक वाल्मीकि की करुणा और शोक से भिन्न हैं। मूलभूत मानवीय स्वभाव से भिन्न आदर्शों के अस्तित्व में व्यास विश्वास नहीं रखते। इसी लिए उन्होंने कथा में संजय द्वारा छोटी से छोटी क्रियाओं, प्रयोजनों और अच्छे-बुरे अभिप्रायों का उल्लेख कराते हुए युद्ध का उपयोग कर लिया है। युद्ध में मनुष्य अपने काले से काले और शुभ्र से शुभ्र रूप में प्रकट होता है। युद्ध में मनुष्य निर्ममता दिखाता है, उतावला हो-हो जाता है, बौरा जाता है। विगत का स्मरण करता है, भूल जाता है। विचित्र स्वप्न देखता है। जन्म और मृत्यु को आमने-सामने खड़े देखता है। वह भोगलोलुप हो उठता है, उन्मत्त भी और अहंकारी भी। नम्र भी होता है और विरक्त भी; कृपण भी, उदार भी। बल्कि, वह इने-गिने क्षणों में जीवन की क्षणभंगुरता व सफलता को मर्मज्ञ की भाँति जान लेता है। भूत और भविष्य को बुद्धिपूर्वक परे हटा देता है और प्राप्तकाल के अभिनव दर्शन पाता

है। योद्धा को छोड़ कर प्राप्तकाल का, आज का, क्षण का महत्त्व और कौन जानता है? और व्यास को छोड़ दें तो है कौन जो रसराज शृंगार का वहिष्कार कर अगणित योद्धाओं के निष्पक्षपाती दर्शनों को कथा के ताने-बाने में गूँथने की कलाचातुरी दिखा सकता है? क्षोभ के पटल पर शान्ति का मन्दनील रंग भरने की कला में पारंगत है ही कौन? युद्ध वैसे तो क्षणिक घटना है परन्तु उस का परिणाम दूरगामी होता है—मन की खरोंच लम्वी और गहरी होती है। हो सकता है कि लम्बाई और गहराई को झेलने की खातिर ही व्यास ने अपनी कृति को प्रदीर्घ व्याख्यानों, आख्यानकों, कथाओं-उपकथाओं आदि विविध प्रकार के कल्पनाबन्धों से मढ़ा हो। आश्चर्य तो यह देख कर होता है कि कैसे व्यास अपनी कृति को कथा न कह कर इतिहास कहते हैं और इतिहास की तमाम घटनाओं के सूचीपत्रनुमा उवाने वाले वर्णनों को बेहिसाब इस्तेमाल कर अपनी कथा को ताज़ा-टटका रख पाये हैं!

कैसे व्यास कथा का, आज जिसे उपन्यास कहा जाता है, एक ऐसी महाकथा का आकलन कर पाये, इसे दुबारा बताने की ज़रूरत नहीं है। इतना अवश्य कहना होगा कि आकलन के कारण ही उन की कलाप्रवणता अधिक मूल्यवान् सिद्ध होती है। डी. एच. लॉरेन्स ने कहा है कि उपन्यासकार सन्त, वैज्ञानिक, दार्शनिक और कवि से श्रेष्ठ है। शेष सब जीवन के किसी एक अंग के दर्शन करते हैं, उपन्यासकार समग्र जीवन की खोज कर सकता है। उपन्यास सजीव मनुष्य में आमूल सिहरन पैदा करता है। "इसी लिए उपन्यास जीवन की पुस्तक है। बाइबिल एक अपूर्व उपन्यास है। वह उपन्यास पेचीदा है और श्रेष्ठ है। आदम, ईव, जेकब, डेविड, जॉब, रूथ, एस्थर, ईसा—क्या ये लोग जीवन्त मनुष्य नहीं हैं? क्या बाइबिल का ईश्वर जीवन्त मनुष्य नहीं है?"

मेरे विचार में लॉरेन्स का कथन व्यास-कृति के विषय में भी यथार्थ है, इसी कारण गुणाढ्य ने अमर कृति का निर्माण करते समय महाभारत का अनुकरण किया। बृहत्कथा का अर्थ है उपन्यास : पेचीदा और विशाल। गुणाढ्य ने महाकथा के रचना-विधान पर तो अधिकार किया, परन्तु वह अध्यात्म से उद्भूत व्यास की कलाप्रज्ञा नहीं समझ पाया, इस में सन्देह नहीं। व्यास की रचना में अकृत्रिम जीवन ही कला बन गया है। जीवन के अन्तिम लक्ष्य की चेतना ज़रा भी लुप्त नहीं हो पायी है। जीवन की सभी अवस्थाओं को व्यास की अनुभूति ने समरूप कर दिया है। समरूपता की चेतना में ही व्यास द्वारा प्रयुक्त दैव-कल्पना का बीज छिपा है। समरूपता की साधना के माध्यम से जीवन का अन्तिम लक्ष्य चित्रित करते हुए व्यास महान् व्यक्तियों की महानता दिखाना चाहते थे, परन्तु यह भी बता देना चाहते थे कि महानता सत्ता में नहीं है, वह विद्यमान है जीवन के अथाह प्रवाह में, तूफ़ानों के बावजूद उस में अनन्त के दर्शन पाने में।

व्यास ने हमारे सामने जिस जीवन को शब्दों में बाँधा है उस का अर्थ यह है :

आत्मा की अखण्ड गतिशीलता का नाम है जीवन। और गतिशीलता अपरिहार्य है, क्योंकि उस में अद्भुत सामर्थ्य और चैतन्य भरा है। चैतन्य मानो एक ही बीज में समाया हुआ है। व्यक्तिरूपी केन्द्र से वह क्रिया द्वारा सब ओर फैलता है; फिर भी उस की दृष्टि एक ही लक्ष्य की ओर लगी रहती है। वह लक्ष्य है सम्पूर्ण एकात्मकता प्रस्थापित करना, आन्तरिक प्रेरणा तथा बाह्य विश्व के बीच सन्तुलन स्थापित करना। जीवन सन्तुलन के सिद्धान्त का संकेत देता है, इसी लिए जीवन वास्तविक अर्थ में कभी ध्वस्त नहीं होता। वह लगातार परिवर्तन पाता है। जीवन जन्म-जन्मान्तर में परिपूर्णतः साकार होता है। भारतीय दर्शन कहता है कि मनुष्य जन्म पाता है तब वह रिक्त नहीं रहता, सब कुछ छोड़ कर मर भी नहीं सकता।

व्यास ने जीवन के गद्य को और काव्य को सचमुच चुन लिया है। उन की शैली व निवेदन की विविध पद्धतियों में गद्य एवं काव्य की सुस्पष्ट सीमारेखाएँ दिखाई पड़ती हैं। समग्र ग्रन्थ छन्दोबद्ध है, लेकिन जहां निवेदन है, सीधा कथन है, सम्भाषण है, वहाँ गद्य का प्रभाव प्रतीत हो कर ही रहता है। विराम-स्थान पर ताल देने के लिए 'पद्य' का प्रयोग टेक की तरह किया गया है—वह विशेष प्रभाव उत्पन्न करता है। उदाहरणार्थ, वनपर्व में द्रौपदी युधिष्ठिर को लक्ष्य कर कहती है : "आप को वन में जाते देख कर रोष उत्पन्न न हो तो क्या हो?" अपनी और अपने पति की दीन स्थिति का वर्णन करते समय वह बार-बार, टेक की तरह, कहती है : 'कस्मात् मन्युर्न वर्धते।' धृतराष्ट्र और संजय के सम्भाषणों में कई जगह पद्यबन्धों की पुनरावृत्ति दिखाई पड़ती है। विशेष कर जब धृतराष्ट्र लम्बे-लम्बे स्वगत-भाषण करते हैं, पुनरावृत्ति एकदम ध्यान में आती है। गद्य और पद्य के प्रयोग द्वारा विशेष प्रभाव उत्पन्न करते हुए व्यास ने नादमयता का एक नया सामर्थ्य दिखाया है। उन्होंने युद्ध में भेरी, दुन्दुभि, शंख आदि के कर्कश नाद, जयध्वनि, गीदड़ की हुआँ-हुआँ, आक्रन्दन, झगड़े की आवाज़—तुमुल नाद भरा घूमता विश्व साकार कर दिया है। कभी-कभी वे अति मृदुलता से मन्द नाद आवर्तित कर काव्य उगाते हैं, और कभी गीत तक गाते हैं। महाभारत का सब से सुन्दर गीत कुन्ती गाती है, जब वह अपने नवजात शिशु को टोकरी में लिटा कर अश्वनदी में प्रवाहित कर देती है। शोक, कम्प, कोमलता, वियोग सभी भावों को व्यास ने नादमय शब्दों की सहायता से साकार कर दिया है। कुछ पंक्तियाँ हैं—

शिवास्ते सन्तु पन्थानो मा च ते परिपन्थिनः।
आगताश्च तथा पुत्र भवन्त्वद्रोहचेतसः॥
पातु त्वां वरुणो राजा सलिले सलिलेश्वरः।
अन्तरिक्षेऽन्तरिक्षस्थः पवनः सर्वगस्तथा॥
धन्यस्ते पुत्र जनको देवो भानुर्विभावसुः।
यस्त्वां द्रक्ष्यन्ति दिव्येन चक्षुषां वाहिनीगतम्॥

धन्या सा प्रमदा या त्वां पुत्रत्वे कल्पयिष्यति ।
यस्यास्त्वं तृषितः पुत्र स्तनं पास्यसि देवज ॥
को नु स्वप्नस्तदा दृष्टो या त्वामादित्यवर्चसम् ।
दिव्यवर्मसमायुक्तं दिव्यकुण्डलभूषितम् ॥
पद्मायतविशालाक्षं पद्मताम्रदलोज्ज्वलम् ।
सुललाटं सुकेशान्तं पुत्रत्वे कल्पयिष्यति ॥
धन्या द्रक्ष्यन्ति पुत्र त्वां भूमौ संसर्पमाणकम् ।
अव्यक्तकलवाक्यानि वदन्तं रेणुगुण्ठितम् ॥

इस गीत में स्वयं माता के स्थान पर नदी उस के पुत्र को पालने में झुला रही है। किस ख़ूबसूरती से 'ल', 'व' और 'र' अक्षरों की पुनरावृत्ति से नदी के जल के ललित कलरव और वायु की मन्द लहरों की प्रतीति करायी गयी है। बेटा देवज है, फिर भी प्यास से तड़प उठेगा, यह सोच कर माँ को रुलायी छूटती है। नदी का प्रवाह ही शोक के आवेग का प्रतीक है। उस की मन की आँखें देख रही हैं अपने 'रेनु-तन-मण्डित' और 'घुटरुनि चलत' लाल को। उसे प्रत्यक्ष देखने वाले व्यक्ति कोई और ही होंगे। और नदी के जल की कल-कल ध्वनि उस से कह रही है कि यह शिशु इतना सुन्दर और तेजस्वी है कि उसे प्यार जताने वालों की कमी न रहेगी।

महाभारत की शैली रामायण से भिन्न है। रामायण एक प्रकटतः एकसन्ध काव्य है। पद्य है। वह कभी गद्य के धरातल पर नहीं आती। रामायण का रचयिता जानता था कि मैं काव्य लिख रहा हूँ। रामायण में तत्कालीन काव्य के समस्त अंग प्रतिबिम्बित होते हैं। रामायण और महाभारत दो ऐसे महाकाव्य हैं जो सारे विश्व में बेजोड़ हैं। ग्रीक महाकाव्य मृत व्यक्तियों पर लिखे गये काव्य हैं। उन में उपलब्ध संस्कृति जीवित नहीं है, परन्तु रामायण और महाभारत मृत संस्कृति के प्रतीक नहीं हैं। जीवन जितना पुरातन है, उतना ही नव नूतन है। रामायण में काव्य के समस्त संकेतों का ईमानदारी से पालन किया गया है। वह सर्गबद्ध है, नायक उदात्त है, उस के चरित्र का उद्गान भी किया गया है। महाभारत भी सर्गबद्ध है; परन्तु उस में परम्परागत नायक नहीं मिलता, फिर भी अनेक पात्र हैं कथाचक्र जिन के गिर्द बराबर घूमता है। लगता है जैसे काव्य के संकेतों को एक तरह से परे हटा दिया गया है: वह इसी लिए एक मुक्त कृति है। इसी लिए उस में गद्य है, पद्य है, काव्य है, नाट्य है और शुष्क प्रबन्ध भी है। राम देवता के अवतार हैं, देवकार्य के लिए आविर्भूत हुए हैं; अतएव रामायण का प्रयोजन है धर्म-प्रवर्तन। महाभारत के पाण्डवों में देवताओं का अंश है, पर वे हैं मनुष्य ही। श्रीकृष्ण भी मनुष्य बने रहे: सदोष मनुष्य। इस के बावजूद महाभारत ने कुछ दिव्य क्षणों में धर्म का स्फुरण पाया है। उन्हीं क्षणों में व्यास ने भौतिक व आध्यात्मिक प्रेरणाओं को एक ही लय में गूँथने में सफलता पायी है। हर्बर्ट

रीड को ज़ेन कलापूर्ण चित्रों को देख कर अभी-अभी यह मान्यता छोड़ देनी पड़ी है कि धर्म और कला परस्पर-पूरक तत्त्व नहीं हैं। क्या धर्मानुसन्धान और क्या कलानुसन्धान, दोनों की दृष्टि में प्रज्ञा का महत्त्व है, वह आवश्यक है। जहाँ जीवन का विचार समग्रता में करना है, वहाँ ईश्वर को प्रकृति से भिन्न नहीं माना जा सकता। पौर्वात्य कला की—धर्मप्रवण कला की—विशेषता यह है कि वह एक में अनेक को और अनेक में एक को देख पाती है, हर्बर्ट रीड ने कहा है। इस में सन्देह नहीं कि व्यास ने महाभारत की रचना करते समय यही कलादृष्टि रखी है।

महाभारत, स्पष्ट ही है, एक व्यक्ति की कृति नहीं है। व्यास ने 'जय' की रचना की, वैशम्पायन ने 'भारत' की और सौति ने 'महाभारत' की, यह सर्वश्रुत है। व्यास ने 'जय' के रूप में एक आदर्श निर्माण कर जो विशाल पट एवं परिमाणों को रचा, कलाकृति को जो शिल्प दिया, वैशम्पायन और सौति ने उत्तरोत्तर उन्हीं का विस्तार और समापन किया। गुफाओं की प्रस्तर कलाकृति एक हाथ से और एक युग में निर्मित नहीं होती, फिर भी वह एकसन्ध होती है, एकात्मक होती है। किसी एक क्षण में जो एक व्यक्ति उस का मनोमय निर्माण और प्रारम्भ कर देता है, वही उस का कर्ता होता है। जिस अर्थ में वेरूळ (इलौरा) की कैलाश गुफा का कर्ता एक ही व्यक्ति है, उसी अर्थ में महाभारत का कर्ता एक ही व्यक्ति है। वस्तुतः यहाँ व्यक्ति का महत्त्व ही नहीं है। एक समान निर्माणक्षमा प्रज्ञावान् मन जिन व्यक्तियों में, जिस युग में उत्पन्न हो कर मूलकृति का कलेवर विस्तृत करते गये, वे मन आरम्भिक मन से भिन्न नहीं माने जा सकते। स्थान और समय को और कार्य-कारण-भाव को अलग कर, दिव्यपुष्प के समान सौन्दर्यानुभूति जगाने की घटना भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का परम भाग्यवान् रहस्य है। अभिनवगुप्त कृत सौन्दर्यानुभूति की व्याख्या और व्याप्ति को इस सम्बन्ध में सब से बड़ा प्रमाण मानना होगा। रस-सिद्धान्त 'रस' को ही सौन्दर्यानुभूति बताता है। रस ही आनन्द है और आनन्द किसी भी प्रकार के अहंभाव में जकड़ा नहीं होता। रसात्मक अनुभूति के माध्यम से शृंगार, भय, क्रोध, दुखादि की प्रतीति होते ही विभावों का व्यक्तिगत सम्बन्ध समाप्त हो जाता है और वे सर्वसाधरण हो जाते हैं। भट्टनायक के इसी सिद्धान्त को अभिनवगुप्त ने उठाया, पर, वे वहीं न रुके रहे। उन्होंने उस में वृद्धि कर उसे स्थान और समय के बन्धनों से मुक्ति दिलायी और श्रुति की रसचेतना 'रसो वै सः', 'आपो वै रसः' को काव्य के निस्यन्द से जोड़ दिया। दण्डी, विश्वनाथ इत्यादि सभी मनीषियों ने काव्यानन्द को ब्रह्मानन्दसहोदर माना है, परन्तु अभिनवगुप्त ने रसानुभूति की समानता योगी की योगानुभूति के साथ प्रस्थापित की है। योगी को ब्रह्मानन्द होता है तो उस क्षण उस के लिए 'जगत्' समाप्त हो जाता है। केवल आनन्द शेष रहता है, और कुछ भी नहीं रहता। इसी प्रकार रस से उत्पन्न सौन्दर्यानुभूति ग्रहण करने के क्षण में 'जगत्', जहाँ तक उस एक क्षण का प्रश्न है, मिट जाता है।

ऐसा है यह रस-तत्त्व, जो इन्द्रिय-बोध से जुड़ा है और फिर भी इन्द्रियातीत है, जो आत्मवृत्तियों को प्रस्फुरित करता है, जो सच्चिदानन्द की सीमा पर रुकता है और समाधि में समा जाता है। यदि हम इस भारतीय सौन्दर्यानुभूति का तत्त्व जानते हैं तो महाभारत जैसी कृति महान् धर्मग्रन्थ और श्रेष्ठ कलाकृति हो जाती है। बल्कि, तब तो यह कहते आपत्ति नहीं उठती कि इस अद्वितीय ग्रन्थ में एक ही प्रज्ञा ने धर्मज्ञान और कलानुसन्धान को स्फुरित किया है।

पूर्णपुरुष कृष्ण

श्रीकृष्ण का जीवन मुझे सब से अधिक मोह लेता है। व्यास की प्रतिभा ने महाभारत, हरिवंश (और बाद में भागवत) ग्रन्थों में जिन भव्य एवं जीवन्त व्यक्तिरेखाओं को भारत के जनमानस में उकेरा है, उन में श्रीकृष्ण सब से अधिक केन्द्रवर्ती आकृति हैं। अन्य सब आकृतियाँ उस को घेर कर उसी के सहारे स्थित हैं। और फिर भी स्थिति यह है कि यदि आप महाभारत के श्रीकृष्ण को ध्यान से देखना चाहें तो आप की दृष्टि में उस आकृति का अवयवबद्ध स्वरूप ठीक से समा नहीं पाता। उसे रेखारूप में साकार नहीं करते बनता। विराट् रूप के मात्र एक उल्लेख ने रेखामय शरीर की सारी आकृति को पोंछ डाला है, ढक दिया है। ऐसे, जैसे मेघ सूर्य को ढक देता है। एक श्यामल-धूमिल वातावरण ही कृष्ण के नाम में भरा है। पर जहाँ-जहाँ कृष्ण की आकृति की रेखा क्षण भर के लिए दृष्टिगोचर हो जाती है, केवल कोरों में दिख जाती है, वहाँ-वहाँ मुझे रंगों का एक बड़ा पुंज दिखाई पड़ता है। दिखती हैं उन रंगों की छटाएँ एक-दूसरी में घुलती हुई और फिर छिटक कर अलग होती हुई। ये रंग, ये छटाएँ सान्ध्यमेघों की भाँति अलौकिक नचैया हैं, दौड़ने वाले रंग ! कृष्ण के व्यक्तित्व के आभास का यह रूप मुझे शब्दशः सान्ध्यरंगों की भाँति प्रतीत होता है। मुझे कई बार ऐसा लगा है, जैसे ये रंग हृदय के प्रत्येक कण में से उफन कर छलक रहे हों।

जब इतिहास, साहित्य की अनेक व्यक्तिरेखाएँ मेरे हृदय से जीवन्त हो कर निःसृत होती हैं तो मैं नाना आभासों से घिर जाती हूँ। तब वे व्यक्तिरेखाएँ उन ग्रन्थों अथवा इतिहास का अंश नहीं रह जातीं। कोई सुन्दर रेखाओं से गढ़ कर आता है। कोई केवल आँख होता है तो कोई काम करने वाले सुन्दर हाथ। किसी की वे आँखें मेरा पीछा करती हैं, हाथ संकेत देते हैं। किसी के अधर कहने को आतुर होते हैं और कुछ बेरोक-टोक चिढ़ाते हैं। बुद्ध जैसे लोग शिलाखण्ड की भाँति जड़ हो कर सामने बैठ जाते हैं। कुछ एकदम मुँह फेर लेते हैं। कृष्ण की रंगाकृति ऐसा एकात्मक आभास नहीं देती। वह रंगाकृति गन्ध की लपटें उठाती है। उस गन्ध के समान कोई ज्ञात गन्ध नहीं है; परन्तु वह अत्यन्त उत्तेजक है। वह तीव्र है, और बहुत-बहुत देर तक घेरे रहती है। कुछ ऐसी है वह गन्ध कि जैसे सृष्टि के समस्त नरों की

प्राणशक्ति की गन्ध को एकत्र कर उसे समस्त पुष्पों की गन्ध में घोल दिया गया हो। और मुझे दिखाई पड़ता है उस गन्ध के गर्भगृह में स्वरों का एक लहलहा अंकुर फूट पड़ा हो। जैसे धैवत पर ऊँचे कोमल निषाद का किंचित् आरेखित स्वर।

और विराट् रूप का आभासमय आवरण कभी-कभी परदे की भाँति बीच में फट कर अलग हो जाता है। अनेक पुराण-कथाओं में, अन्धश्रद्धा में और नारी की नस-नस में जो एक अनाम अनुभव स्फुरण पाता है, वह एकाकार हो जाता है और उस में से अवतीर्ण होता है एक ऊँचा-पूरा पुरुष। वह आदम से नाता जोड़ता है—शरीर से और वासनाओं से। पर वह आदम की अपेक्षा अनेक दैवी उपहारों का अधिकारी है। आदम की कोई संस्कृति नहीं थी; इस में संस्कृति साकार होती है। इस के इर्द-गिर्द सुख की क्यारियाँ खिल रही हैं। बेचारा आदम बग़ीचे के बाहर निकला—यह जानने से पहले कि यह बग़ीचा है—और खाक छानता रहा। इन्द्रियों के फन के चाबुक खाता हुआ घूमा किया। परन्तु यह जिया पौरुष की, मनुष्य मात्र की सारी मस्ती को पी कर, पचा कर; और मरण की, विरह की एक-एक व्यथा को हौले-हौले छू कर जिया। उस में भरा था स्पर्श का सम्पूर्ण लालित्य, सारा नखरा। व्यास द्वारा निर्मित रंगों की झलकियों में यह दूसरे धरातल वाला पुरुष-रूप अधिक मनमोहक और अधिक रेखाबद्ध हो कर उभरता है। वह साक्षात्कार के चमत्कार से विमुक्त हो जाता है; पार्थिव जीवन के सहारे हिलने-डोलने लगता है।

कृष्ण-चरित किसी एक ग्रन्थ में निबद्ध नहीं है। नाना ग्रन्थों ने, काव्यों ने, नर एवं नारियों के जीवन ने उसे तिल-तिल दे कर रचा है। कृष्ण जी रहा है आज तक, जीवन को चहुँ ओर से स्पर्श करने वाले, व्यक्ति-व्यक्ति के सुख-दुखों के स्पन्दन को स्वयं भोग कर और उन्हें सजीव एवं कृतार्थ कर। क्योंकि कृष्ण मानव है; मात्र मानव ही नहीं, पुरुष है। वह पूर्णपुरुष है।

कृष्ण का जन्म मृत्यु की छाया में, भय के भँवर में, आशा के अमर आश्वासन में हुआ था। राम का शैशव किसी को याद नहीं आता। वह बालकाण्ड में बन्दी बन कर पड़ा है। ईसा और बुद्ध के शैशव पर उन की प्रौढ़ायु हावी हो गयी है। परन्तु कृष्ण का शैशव घर-घर में खेलता है। अनेक माताओं के अनुभव में स्थिर हो चुका है वह शिशु जो जन्म पाते ही अपनी माता की गोद से दूर चला जाता है और विरह की आँच में झुलसता है। यह शिशु अन्य शिशुओं की भाँति विराम नहीं पाता। वह यशोदा के दग्ध हृदय पर हरीतिमा बन कर छा जाता है। वह घुटनों के बल चलता है, पालने में पड़ा रोता है जैसे उस में काँटे बिछे हों और बिछौने को गीला कर देता है। उस का बालहठ विख्यात है। वह पिटता है, बन्द कर दिया जाता है, शैतानी कर के मौत को पास बुलाता है। वह बड़ा होता है माता को प्रतिपल स्मरण कराता हुआ कि मेरा लाल एकदम मक्कार है, इसी कारण उस से अपार प्यार है।

उस के पश्चात् दूसरा पर्व! ग्वाल-बालों की मैत्री, खेल, चोरी, ब्रज-वनिताओं

से छेड़-छाड़, कच्ची उम्र में राधा के साथ प्रेम-क्रीड़ाएँ। पहलवानी में प्रवीणता। क्या नहीं था यौवनोन्मुख कृष्ण में ? एक ओर कंस था, शिशुपाल था, ज्वलन्त वैर पल रहा था; दूसरी ओर भोले-भाले बालक और गोपियाँ थीं जो उस के लिए प्राण हथेली पर ले कर घूमती थीं। बड़ा भाई उस का दास था। गौएँ उस का वत्सल स्पर्श पा कर हरख उठती थीं, पुष्टता पाती थीं। उन की प्रसूति बढ़ रही थी, दूध की नदियाँ बह रही थीं।

उस की मुरली यौवन के उद्रेकों को आवाहन कर रही थी। और वह जादू था उस के संगीत में कि गोपियाँ लट्टू थीं वाद्य-वादक पर ! उन का यौवन केवल उस के लिए खिलता था पर जो कभी सार्वजनिक स्वैराचार में परिणत न हुआ। समुद्र की लहरों की भाँति था वह आकर्षण, जो ज्वार आने पर घेर लेती हैं और फिर निजी प्रेरणा से हट जाती हैं। आकर्षण जो कृष्ण से हट कर कृष्ण में समा जाता था। यह वह नाता था जो नितान्त मृदुल था, इसी लिए दृढ़ था। इस नाते का सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है राधा। द्रौपदी को कृष्ण से बहन के रूप में बाँध कर परम्परा ने व्यावहारिक नीति को प्रतिष्ठा देने का सफल और असफल प्रयास किया है। आगे चल कर राधा जब पुराणों में अवतीर्ण हुई, तो उस ने इन बन्धनों को तोड़ दिया। नहीं रोक सका उस प्रीति को विवाह का बन्धन, आयु। अनिर्बन्ध और नाजुक रेशमी शृंगार की वह ऐसी अनुभूति है जो कभी पुरानी नहीं पड़ी।

भारतीय संस्कृति प्रायः लालित्य में नहीं खिलती। वह एक बार भरपूर खिली। राधा और कृष्ण की प्रीति का वसन्त एक बार ही आया और चला गया। चला तो गया, पर, कुछ ऐसा रख कर जो सदा खिलता है, सतत महकता है। भारतीय पातिव्रत्य की कठोरता को निःशेष चुनौती दे कर राधा ने एकनिष्ठ प्रीति का चाँदनी से रँगा पूर्ण सौन्दर्य उद्घाटित किया है। राधा ही थी जिस ने प्रेमानुराग के दमकते लाल वर्ण को सौम्य नीला रुपहला बना दिया। इसी नीली प्रीति को अपने में समाहित करते-करते कृष्ण का व्यक्तित्व आकाश सा विस्तृत होता चला गया, ऊँचाइयों को छू सका। वह अतीव मृदुल और निगूढ़ बन गया, रात की तरह। राधा-कृष्ण की प्रीति से भारतीय प्रेमकथा ने नयी कोमलता पायी है। वह भाव पाया है जो गिरस्थी के भार से भी कभी बासा नहीं होता। प्रीति की परिपूर्ति चिरयौवन की मुखाकांक्षी रही है। उसी को सिद्ध करने के लिए इस आदर्श प्रेमी ने जैसे अपने को राधा के विरह से बाँध रखा है।

क्या वह दिखाना चाहता है कि मृत्यु में समायी अमरता की भाँति प्रेम भी तभी सार्थकता पाता है, जब वह प्रिय के सहवास से सदा के लिए वंचित हो जाता है ? क्या स्वानुभव के आधार पर बतलाना चाहता है कि ऐसा चिरविरह ही प्रेम की सफलता के अशरीरी रूप की उत्कटता प्रतीति से कराता है ? राधा और कृष्ण कब एक-दूसरे के साथ-साथ रहे हैं ? उन का सहवास क्षणिक है और वे क्षण अत्यन्त मुखर हैं। उन के समस्त

मुखर भावों को पुराणों और कथाकाव्यों ने बहुत सहेज कर रखा है। उन की संजीवनी प्रीति का प्रतीक है मुरली। और बाद में आया अनन्त विरह? वह मौन है, निगूढ़ है। वह नहीं ग्रहण करेगा कभी नाद-रंग-रूप के आभरण। वह विरह कलह, उपेक्षा, मृत्यु का संकेत भी तो नहीं देता। फिर भी वह अपनी अनामता के कारण नितान्त सजीव हो कर आया है। ऐसा नहीं दिखता कि कृष्ण ने कभी राधा की स्मृति से आकुल हो कर राम की भाँति खुलेआम शोक मनाया हो। क्या उस ने इस सुकोमल प्रेमाविष्कार को अन्तर के निभृत एकान्त में इस तरह छिपा कर रखा था कि कोई पहचान तक न सके? दुनियादारी के संकेत उन्हें छू तक न सकें?

राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं, और कृष्ण हर व्यापार में सीमाओं का अतिक्रमण करने में पारंगत। उस ने हर बात को निपुणता दी। उस में अमर्याद सौन्दर्य और चैतन्य भर दिया। उस ने हवा के तेज़ झोंके की तरह सनसनाहट का जीवन जिया। शैशव में वह खेलने में पटु था, प्राणपण से खेलता था। चोरी को उस ने रमणीकता दी। हास्य-विनोद को जतन से पाला। भारतीय दार्शनिक और हास्य-विनोद: दोनों में इतना फ़ासला है जितना दो ध्रुवों में—संसार के सभी दार्शनिकों के विषय में यह सत्य है। अपवाद है सिर्फ़ एक—कनफ़्युशियस! उस ने प्रतिपादित किया है कि जो हँस नहीं सकता, वह सन्त नहीं बन सकता। कृष्ण की गीता में हास्य-विनोद नहीं है। वह एक गम्भीर कृति है। परन्तु कृष्ण के प्रारम्भिक जीवन में कौतुकी विनोद भरा हुआ है; वह न होता तो गीता की गम्भीरता ओछी पड़ जाती।

कृष्ण मूलतः कलासक्त व्यक्ति है। वह संगीत का उपासक है। उस की कलासक्ति, प्रीति की भाँति, धरती पर पाँव जमा कर खड़ी है। उस ने वीणा धारण नहीं की, बाँसुरी उठायी। प्राणपण से बाँस के टुकड़े में बौर उगाये। कृष्ण की लहरी मुरली की माधुरी अमर है। अहीरों का मामूली सा वाद्य! परन्तु श्रीकृष्ण ने उसे सप्राण कर दिखाया। अत्यन्त प्राकृत, टिड़बिड़ंगी दिखने वाली वस्तुओं को चिरन्तन कलात्मक मूल्यों से युक्त करना केवल कृष्ण ही जानता है। कलाकार का उफन कर बहने वाला, स्वयं को होम देने वाला व्यक्तित्व कृष्ण के जीवन का प्रमुख अंग है।

यह उफन कर बहना, यह विसर्जन का गुण कुछ ऐसा दुर्निवार है कि कृष्ण देखते-देखते एक भूमिका से दूसरी भूमिका में बेरोक-टोक प्रवेश कर जाता है, नयी भूमिका में तन्मय हो जाता है; यही नहीं, नयी भूमिका निबाहते हुए वह पूर्वभूमिका से सम्बन्धित व्यक्तियों को होम दे कर अलग हो जाता है। देवकी को मातृपद से विभूषित कर वह उसे छोड़ कर आगे बढ़ जाता है। यशोदा और नन्द का दैव कुछ भिन्न नहीं है। वही गोप-गोपियों के बाँटे पड़ा। यह तो सब ठीक, पर क्या वह मथुरावासी प्रजा के साथ, कंसवध के पश्चात्, चिपका रहा? बिलकुल नहीं। मथुरा त्याग कर वह द्वारिका पहुँचा। भारतीय युद्ध के अवसर पर शस्त्र न छूने की प्रतिज्ञा कर उस ने योद्धा के रूप में अर्जित ख्याति को विसर्जित कर दिया और एक दार्शनिक की भूमिका का

निर्वाह किया। इसे स्वीकार करते समय उस ने यादवों को त्यागने की तैयारी दिखायी; उन की उन्मत्तावस्था देख कर वह उन के विनाश का कारण भी बना।

कृष्ण जैसे अनासक्त योगेश्वर के लिए समाधि का मरण उचित होता। उस ने इस परम्परागत भूमिका को भी त्याग दिया। उस ने मरण का साक्षात्कार किया विजन में; व्याध के शर से। पुत्र, मित्र-साथी, बन्धु, वादक, प्रेमी, योद्धा, पति, राजा, राजनीति-धुरन्धर, वक्ता, दार्शनिक आदि सभी भूमिकाओं में अपरम्पार रस घोल कर कृष्ण ने अन्त में एक सामान्य मानव की भाँति मरण को स्वीकार कर जैसे सभी भूमिकाओं को स्वयं हरा दिया है! ईसा ने मरते समय कहा था, "ओ ईश्वर! मैं ने कौन सा पाप किया था जो तू ने मुझे यह सज़ा दी?" मेरे विचार में ईसा की वाणी उस की विनम्र मानवीयता का द्योतन करती है। शूकर के मांस का सेवन करने से उत्पन्न अतिसार ने गौतम बुद्ध की इहलीला समाप्त कर दी। इस से भी यही ज्ञात होता है कि योगसिद्धि पाने वाले महात्मा भी सामान्य मानव के शरीर की नियति से मुक्त नहीं हो पाते। कृष्ण के नम्र मरण की भी यही कथा है।

कृष्ण के गोपियों के साथ किये गये 'व्यभिचार' का हौआ हमेशा खड़ा किया जाता है। सही है कि कृष्ण ने जिस जीवन को अंगीकृत किया, उसे सामान्य जन की तरह ही स्वीकृत किया, फिर भी यह नहीं भुलाया जा सकता कि कृष्ण में ऐसी भी कुशलता थी कि वह सामान्य मानव की नियति में नमक के कण की तरह घुल जाता था और उस पर अपनी छाप छोड़ जाता था! अबोध शिशु, पशु-पक्षी, अशिक्षित, छोटी-बड़ी सुरूप-कुरूप नारियाँ—उस ने सब को समान भाव से ग्रहण किया। उन का अपना बन कर ग्रहण किया और ऐसा अवश्य दिखाई पड़ता है कि कुछ काल तक वह उन में पूरी तरह उलझा रहा; पर, जब उन से दूर जाने का अनिवार्य क्षण उपस्थित हुआ तो उस ने दुबारा मुड़ कर नहीं देखा! किशोरावस्था पार करते न करते जिस ने राधा से मुँह मोड़ लिया हो, वह भला गोपियों की ओर देखता? कालान्तर में वह गृहस्थाश्रमी भी बना। और अन्त तक वह कुटुम्बवात्सल्य का व्यवसाय भी ईमानदारी से करता रहा किन्तु उस ने अपने वंश का विस्तार नहीं होने दिया। उस ने अपत्यमरण की वेदना एकाकी रह कर झेली, मौन भाव से; और अष्टनायिकाओं से घिर कर भी वह एकाकी ही रहा!

आसक्ति और विरक्ति की पराकाष्ठा उस ने कुशलता से प्राप्त की। वह मेघ की तरह बरस कर, रीता हो कर चल दिया। द्वारिका जल कर भस्म हो गयी। पाण्डवों ने भी कहाँ राम की तरह राज्यसुख पाया? भारतीय युद्ध का दुख उन्हें आजीवन जलाता रहा। कृष्ण का ही क्या शेष रहा? कुछ भी तो नहीं। रही सिर्फ़ जलते कपूर की गन्ध। अपने ही व्यक्तित्व को अपने हाथों पोंछ देने का अपूर्व कौशल श्रीकृष्ण में ही था।

और फिर भी मुझे लगता है कि कृष्ण आज के विश्व की विशाल अनुभूति में

नहीं समा सकता। लगता नहीं कि कृष्ण को आज के विश्व में जीवित रूप में विचरण करते हुए देखूँ, कि वह जीवित हो कर आयेगा तो संसार में सुख बाँटेगा। बल्कि, यही ठीक है कि वह पुरातन साहित्य के अवगुण्ठन में छिपा है; क्योंकि इसी से उस की चिरन्तनता, शाश्वतता बनी रहेगी। यन्त्रयुग आ गया है, समय सावधान हो गया है। अधिक जानकार हो गया है। वह अब इतना सीधा नहीं रह गया है कि किसी की एकाकी पदचाप सुन कर उस का अनुगमन करे, उस का मुखापेक्षी बन कर अपना चक्र चलाये। व्यास के युग में, लोककथा के किसी एक कल्पित काल में भले ही कृष्ण का जीवन विश्वव्यापी बन गया हो; आज जब व्यक्ति-जीवन की समग्र इयत्ताएँ फैल चुकी हैं, तो एक सर्वांगीण आदर्श पुरुष आज के सुसंस्कृत जीवन को व्याप कर भी दस अंगुल शेष रहेगा, महान् प्रतीत होगा—यह नहीं होना है। हाँ; हो सकता है, पुरातन धर्म-प्रवर्तकों—इतने विशाल व्यक्तित्व मात्र तात्कालिक आन्दोलनकारी जीवन के अग्रभाग को सुशोभित करें। यह भी नहीं लगता कि कोई एक व्यक्ति सम्पूर्ण मानवीय जीवन का तात्त्विक अर्थ समझाने का साहस करेगा। कृष्ण का प्रेम सुन्दर था, उस के युग में; उस की राजनीति-पटुता आज के गणराज्य के लिए पर्याप्त सिद्ध नहीं होगी। उस महा-मानव का जो भी निजी सत्त्व था, वह आज की संस्कृति की प्रगल्भता के लिए पर्याप्त नहीं है। कृष्ण पूर्णपुरुष था, अतएव प्राकृत था। वह निस्सन्देह कृषि-प्रधान संस्कृति का प्रतीक था। यदि वह वर्तमानकालिक यान्त्रिक, नागर संस्कृति में रहेगा तो सिर्फ़ मखमल से मढ़ी मंजूषा का अलंकार बन कर; पौरुष, प्रीति, संगीत और दर्शन का प्रतीक बन कर। बुद्धिमान् समय ने शताब्दियों तक कोटि-कोटि मुखों से कृष्ण-कथा का गान करा कर कृष्ण को प्रतीक-स्वरूप जीवित रखा है। अच्छे-अच्छे लोग महामानव के सपने देखते हैं; किन्तु यन्त्रयुग में महामानव विसर्जित हो जाता है, उज्जीवित नहीं होता। कारण यह कि हम मानवीय हृदय की मूलभूत दुर्बलता जान गये हैं। क्या महामानव का भीतरी मन किन्हीं अन्य गुणों व वर्णों से बनने चला है? चूँकि हम जानते हैं कि अब हमारे बीच ऐसा महामानव जन्म नहीं लेगा, इसी लिए तो हम अतीत की महानता के आदर्शों का गौरव करते हैं, प्रतीकों के रूप में उन्हें सहेज कर रखते हैं और सावधानी बरतते हैं: कहीं ऐसा न हो कि उन के और हमारे बीच कोई अन्तर ही न रहे!

राई के तड़के की लपट

महाभारत की शोकान्तिका किस घटना में उद्‌घाटित होती है ? द्रौपदी के पुत्रों के निधन में ? कर्ण के बलिदान में ? कुन्ती के दुख की अविरत प्रवाहित धारा में ? कौरवों के भीषण संहार में ? मुझे लगता है, हम चाहे इन सब दुखों को एकत्र करें फिर भी ज्ञान-लालसा से उद्‌भूत जिस अभिमान ने, लीनता ने और लबालब भरे अभिनव अनाम दुख ने एकलव्य को सम्पूर्णतः एकाकी कर दिया, उस दुख के एक कण की बराबरी उन महान् कहलाने वालों के जगन्मान्य दुख नहीं कर सकते । कर ही कैसे सकते हैं ? उन में से प्रत्येक के दुख में स्वयं उन के कुछ प्रमाद साझा करते रहे हैं; उन के अपने कर्मों का भोक्तृत्व रहा है । परन्तु एकलव्य का भोक्तृत्व क्या था ? उस का आख़िर तक वर्णन करते समय व्यास की लेखनी भी रुक गयी । जहाँ एकलव्य की कथा समाप्त होती है, वहाँ उस धागे को एकदम लपेट कर जो अन्तिम विराम—अपूर्ण अवस्था में विराम—चिह्न लगाने की कारीगरी व्यास ने दिखायी है, उस की मिसाल नहीं मिलेगी । कहा गया है कि कवि का मौन सर्वाधिक सृजनशील होता है । इस दृष्टि से देखती हूँ तो प्रतीत होता है कि अकेले व्यास ही ऐसे कवि हैं जिन्होंनें अपनी कृति में, ऐसा मौन धारण किया है जो अपने सृजन के बीज गर्भ में छिपाये हुए है । कभी सन्देह होता है : ऐसा तो नहीं कि प्रतिष्ठा के केन्द्र को चुनौती देते सत्य को—उस सत्य को जो खुभता है, जो डसता है, व्यास ने ढक दिया—'नरो वा कुंजरो वा' की चालाकी की तरह ? इधर-उधर कुछ कह दिया और सत्य की एक झलक दिखा दी, बस । सतही दृष्टि से देखें तो एकलव्य की कहानी वैसे ही सुनायी गयी है जैसे वह घटित हुई है । पर उस की गूँज-अनुगूँज ? वह कहाँ गयी ? देवयानी की प्रेमहानि का आक्रोश और उस की समस्त सूक्ष्म प्रतिध्वनियाँ साफ़ सुनाई पड़ती हैं । दमयन्ती की व्यथा और उस का सुख भी कैसी कोमलता से कहा गया है । सावित्री के पातिव्रत्य की कहानी पवित्रता को आलोकित कर जाती है । फिर एकलव्य की कहानी सुनाते समय ही स्वर ने दुनियादारी क्यों अपनायी ? वाणी ने संक्षिप्तता क्यों ग्रहण की ? क्या यहाँ कुछ भी ऐसा नहीं था जो कवि-मन को आकण्ठ भर जाता ? क्या यहाँ वह आवेगी सत्य ज़रा भी नहीं था जो बाढ़ की तरह बहा ले जाता है ?

नहीं, यह भी नहीं कहा जाता ! एकलव्य तो खैर मौन से ढक गया, लेकिन

द्रोण बचे रहे। उन के जीवन की सफलता की विफल कहानी में ही एकलव्य की अनाम उत्तरकथा मिल जाती है। नायक के नेपथ्य में चले जाने पर जो खलनायक का नाटक रंग जमाता है, वह द्रोण की कथा का ही है। जैसे ही एकलव्य की इस उत्तरकथा का भान हो आता है, दिखाई पड़ती हैं चहुँओर फैली-पसरी व्याधगीता, भगवद्गीता आदि अनेक उपदेशपरक दर्शनों की हरी-भरी गाथाएँ। एकलव्य की कहानी से उभरे कुरूप सत्य को ढकने के लिए कितने प्रयास से इन पुष्ट दर्शनों को सजाया गया है। एक व्याधपुत्र के साथ जो अन्याय किया गया था, उसे छिपाने के लिए दूसरे व्याध के मुख से सांसारिक दर्शन कहलवाया गया है, और कैसी ख़ूबसूरती से ! भगवद्गीता में किस नीति का दिग्दर्शन नहीं मिलता ? फिर भी एकलव्य के तथ्य का, उस की वेदना का उत्तर दोनों दार्शनिक चिन्तनों में खोज कर भी नहीं मिलता। पहले चिन्तन में माता-पिता की सेवा का विशाल आडम्बर रच कर व्याध को ऊँचाइयों पर ले जाया गया है, और भगवद्गीता में विराट् दर्शन के अनुषंग से दूर की कौड़ी ला कर आत्मा की अमरता का गौरव किया गया है; और पास की देहरी को अनदेखा किया गया है। अगर कभी बेचारा एकलव्य शिकायत करता तो दोनों ओर से उस की शिकायत को सम्मोह के सुन्दर नाम से पुकारा जाता। पर कैसे करता शिकायत एकलव्य जिस ने स्वयं विद्या 'पढ़ी थी, निपुणता पायी थी और जो निपुणता के कारण ही झुलस गया था ? और करता भी, तो कौन सुनता ? पैरोंतले रौंदे गये लोगों की दुखभरी पुकार बालसदृश सीधे-सादे मनुष्यों को ही सुनाई पड़ती है, समझ पड़ती है। पर, उन की समझ वाचाहीन होती है। व्यास ने क्या ऐसे लोगों के लिए महाभारत लिखा है ? महान् जनों की कथाएँ—वे लिखी हैं महान् जनों के लिए कि वे ही सुनें। महान् जनों से भी हो जाती है कभी-कभी कोई भूलविन्दु इतनी; उन्हें विरामचिह्न माना जाये ताकि यह सिद्ध हो कि अन्ततः वे भी मनुष्य ही थे। चूँकि वे अपने को सीधी-सादी दुनियादारी में जकड़ लेते हैं; इसी कारण तो उन के और सीधे-सादे लोगों के बीच अटल सेतु बना रहता है। उन भूलों की वजह से उन का यश कलंकित थोड़े ही होता है !

दार्शनिक और राजनीतिज्ञ व्यास ने खुलेआम तो यही न्याय किया है; पर उन में छिपा कलाकार बहुत चतुर, बहुत धूर्त है। डाँटिए, धमकाइए, वह नहीं सुनता। बाहर के व्यास का देखा सत्य वह नहीं मानता। सत्य की भी परतें होती हैं, हर तह का रंग अलग होता है। हर रंग की छटा अलग होती है। बुनावट अलग होती है। मूल्य भिन्न होता है। वह इसे जानता है और सही-सही रंगछटा को, बुनावट को, मूल्य को चुन कर उसे उचित नाम देता है। गिनता है, तौलता है, और उस के बाद अपनी तूलिका से ठोस आकृति की पृष्ठभूमि में अपनी देखी एक अलग रंगाकृति अंकित कर देता है। बहुत धूमिल, बहुत फीकी हुआ करती है वह आकृति, एकदम पारदर्शी। बहुत ध्यान दे कर देखेंगे तो उस की रेखाएँ खो जायेंगी। परन्तु ठोस आकृति

को देखेंगे तो वह सतत उस के पीछे खड़ी दिखाई पड़ेगी। कभी साथ देती हुई तो कभी चिढ़ाती हुई। और क्या वह कलाकार केवल कलाकृति रच कर रुक जाता है? नहीं। कभी-कभी वह मूल आकृति के पास विचित्र आलेख उकेरता है। कभी आकृति के चारों ओर एक नादमय तकली घुमाता है। स्वर कभी सुसंवादी होंगे, तो कभी विसंवादी। आँख देखेगी, कान उस के प्रतिकूल सुनेंगे; पर, जब नाद और दृश्य एकाकार हो जायेंगे तो एक नवीन कलाकृति उभरेगी। सुन्दर, असुन्दर, रौद्र, करुण, प्रसन्न, भीषण—नहीं, वह विशेषणातीत है। भीतर के व्यास की तीक्ष्ण कलादृष्टि द्वन्द्व की लक्ष्मण-रेखा नहीं जानती। वह जानती है मात्र एक ही तत्त्व। काल की समस्त तहों में, मनुष्य-मनुष्य के भीतर झरती मानवीयता की अविरल धारा। जहाँ धारा का प्रवाह रुक जाता है, वहाँ व्यास का कलानिष्ठ क्रोध, उन का दुखावेग फूट पड़ता है। तब व्यास अपनी आकृतियों में असली रंग प्राणपण से उँडेल देते हैं। जीवन के ताल पर मृत्यु का संगीत गाने लगते हैं।

कलाकार व्यास ने गीत गाये हैं, गीत पर गीत! पर ऐसा भी आया एक गीत कि कड़ियाँ न बनें, छोड़ दें तो छोड़ते न बने। गीत के अमूर्त स्वरों ने, भावों ने उन्हें पागल कर दिया। उसी क्षण देखा उन्होंने: एकलव्य की व्यथा द्रोण की चिरव्यथा में तादात्म्य पा चुकी है। नहीं; वह कथा अब न एकलव्य की रह गयी है, न द्रोण की। अब वह भीषण शोककथा है बुद्धिवादियों की अविकसित आकांक्षाओं की। जानकारों की विशाल दुनिया राई इतनी हलकी और छोटी है। बहा दीजिए आप उस में प्राणों की धारा, शायद ही कभी किसी महाभाग का स्पर्श पा कर दुबारा विशाल हो पाये। राई आखिर राई ही रहती है। उस राई के तड़के ने ऐसी परम्परा तैयार की कि अगर एक को आकाश छूना है तो दूसरे को धरती पर ही रहना होगा। 'तू नहीं तो मैं' का दर्शन बन गया। बलवानों का बल निसर्गदत्त और तपःसाध्य न रहा। व्यावहारिक समर्थ जन बनशाली बन गये। द्रोण ने एकलव्य का अँगूठा क्या कटवाया, बुद्धि और कौशल का नियोजन आरम्भ करा दिया। जब से निर्माणक्षयी नियोजन की चर्खी चल पड़ी है, तब से वह बराबर चल रही है, कहीं जाइए, कभी जाइए, सर्वत्र!

दरिद्र ब्राह्मण थे द्रोण। ब्राह्मण के लिए दरिद्रता कोई नयी बात नहीं। परन्तु ऐसे ब्राह्मण सिर्फ़ द्रोण ही थे जिन के हृदय को दरिद्रता ने जला कर राख कर दिया था। वह हृदय दुबारा नया, हरा-भरा न हुआ। द्रुपद द्रोण का विद्यार्थी-अवस्था का मित्र था। दोनों ने आजीवन मैत्री की शपथ ली थी। द्रोण समस्त विद्याओं में पारंगत थे—युद्धशास्त्र में उन्हें अप्रतिम प्रवीणता प्राप्त थी। जैसे ही गिरस्थी जमायी, दरिद्रता के काँटों ने लहूलुहान कर दिया। बेटा दूध माँगने लगा। दूध था नहीं। जल में आटा घोल कर पिला दिया और बेटा 'मैं ने दूध पिया!' कह कर नाचने लगा। द्रोण ने देखा और एक पिता का अन्तःकरण विदीर्ण हो गया। द्रुपद अपना बचपन का मित्र है, यह सोच कर वे उस के यहाँ गये और वहाँ एक काण्ड घटित हो गया। द्रुपद ने उन्हें

चीन्हा तक नहीं; उलटे, उपहास किया। द्रोण की क्रोधाग्नि का क्या कहना। स्मरण हो आयी अपनी क्षात्र-विद्या। पुत्र-पौत्रादि सहित द्रुपद का वध करने की प्रतिज्ञा कर द्रोण ने धृतराष्ट्र के दरबार में राजपुत्रों को शस्त्र-विद्या सिखाने का काम ले लिया। अर्जुन का कौशल देखा तो द्रोण को लगा कि इसी के हाथों मनोरथ सिद्ध होगा। अर्जुन की महत्त्वाकांक्षाओं को द्रोण ने चेताया, पाला-पोसा। अर्जुन को आशीर्वाद दिया : "तुम सब से श्रेष्ठ धनुर्धारी होगे!"

हालत सुधरी परन्तु मन द्रुपद के प्रति बैर पाले रहा। यहाँ तक कि अन्त में द्रुपद रहा एक तरफ़, बैर ने द्रोण के हृदय के कोने-कोने को व्याप लिया; वह सर्वभक्षी व्यथा से भर उठा। उन के रोम-रोम में असहिष्णुता ने घर कर लिया। उद्दाम, रुग्ण मनोवृत्ति वाले मनुष्य में कहाँ से आता ज्ञानदत्त संयम, विनय, जब वह यही मान कर चलता था : "संसार में गुरु हैं तो सिर्फ़ द्रोणाचार्य हैं; शिष्य यदि कोई हो सकता है तो वह हमारा ही होगा। विद्या की मर्यादा वही होगी जो मैं बाँधूँगा।" यही थी वह अनुदार, आत्मकेन्द्री वृत्ति जिस ने एकलव्य जैसे वन्य राजकुमार को शिष्य के रूप में स्वीकृत नहीं किया। और एकलव्य था कि उस ने द्रोण को अपना गुरु मान कर धनुर्विद्या में निपुणता प्राप्त की; यह देख अर्जुन की ईर्ष्या भड़क उठी। जब अर्जुन को पता चला कि यह भिल्लकुमार हमारे गुरु का शिष्य है, तो उस का क्रोध बाँध तोड़ कर बहने लगा। उस ने गुरु को आशीर्वाद की याद दिलायी और गुरु ने गुरु-दक्षिणा का निमित्त प्रस्तुत कर एकलव्य के दाहिने हाथ का अँगूठा तत्काल माँग लिया। एकलव्य ने असन्तोष नहीं दिखाया, शिकायत नहीं की। तोड़ कर हाज़िर कर दिया। बस, यहीं पूर्वकथा समाप्त होती है; परन्तु जहाँ एकलव्य का जीवन्त मरण शुरू होता है, वहीं द्रोण के मृत जीवन का प्रारम्भ होता है। द्रोण ने अर्जुन को आशीर्वादात्मक अभिवचन दिया था, इस उद्देश्य से कि राजघराने में अपनी प्रतिष्ठा बनी रहे; और उन्होंने उसे पूरा कर दिखाया, चाहे उस में क्रूरता, अन्याय का दाग़ लग गया हो! कम से कम शिष्य के प्रति प्रेम तो उच्चकोटि का होता; नहीं, वह भी कलंक से मैला हो चुका था। अपनी लाचारी छिपाने के लिए द्रोण नाना प्रकार के बहाने खोजते रहे। सोच-समझ कर नहीं, बल्कि इसलिए कि वैसा करना उन का स्वभाव बन चुका था। एक भय था—कहीं दुबारा दारिद्र्य लौट कर तो नहीं आयेगा?—वही उन्हें खा गया। वे दारिद्रच के भय से कभी पीछा न छुड़ा सके। उन का व्यवसाय था शूरता का, किन्तु वे भय के सामने कायर ही बने रहे।

कौन पिता होगा जो नहीं चाहेगा कि मेरा पुत्र यशस्वी हो, मुझ से श्रेष्ठ हो? द्रोण भी यही चाहते थे, इसलिए वह आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य की बात तो यह है कि जो व्यक्ति जीवन की ओर आत्मकेन्द्री दृष्टि से देखना शुरू कर देता है तो सब प्रकार की निष्ठाएँ उस से विलग हो जाती हैं। द्रोण के विषय में यही तो हुआ। कौरव-पाण्डवों ने उन की दरिद्रता हर ली, उन्हें राज्याश्रय दिया परन्तु अशान्त

शास्त्रज्ञ के हृदय में निष्ठा का आधार न रहा। उन्होंने स्वामिभक्ति के सर्वश्रेष्ठ मूल्य तक को कालिख पोत दी। अपने पुत्र को अर्जुन से भी श्रेष्ठ बनाने की लालसा से वे अन्य शिष्यों को काम दे कर दूर भेज देते थे और अश्वत्थामा को अमूल्य शस्त्रों की शिक्षा देते थे। उन की चालाकी की पोल खुल कर रही; फिर भी उन्होंने अपने पुत्र को एक अमोघ अस्त्र दे ही तो दिया। उस का अभिशाप उन्हें आगे चल कर भोगना पड़ा। अर्जुन और द्रोण एक ही तुच्छ स्पर्धा-भाव से जल रहे थे—अपने से बड़ा धनुर्धारी कोई न होने पाये! यदि हो तो उसे रास्ते से हटा दिया जाये, जैसे बने। यदि अर्जुन शिखण्डी का आश्रय लेने का साहस कर सका तो इसी कारण। अब, अर्जुन तो कृष्ण की छाँह में पल रहा था, इसलिए उस का हर दोष ढक गया। परन्तु ज्यों-ज्यों कौरव बलवान् होते चले, त्यों-त्यों द्रोणाचार्य अधिकाधिक दबते गये। उन्हें, चाहें न चाहें, दुर्योधन के प्रत्येक कार्य का समर्थन करना पड़ा। वे शक्तिशाली कौरवों के मुखापेक्षी बन कर जिये। पाण्डव पदहीन थे, द्रोण उन का साथ न दे सके। कौरवों की प्रत्येक कृति के साथ द्रोण शर्म से झुक जाते थे। आँखें खुल रही थीं, आयु ढल रही थी। कौशल लाचार था। क्या कभी याद नहीं आया होगा अन्याय जो एकलव्य के साथ किया था? आया भी होगा तो उन्हें लगा होगा कि मुझे कौरवों के अन्याय के विरुद्ध बोलने का अधिकार नहीं है; और जब ऐसा लगा होगा तो वे दीन होकर मौन रह गये होंगे। यदि वह स्मृति ही पुँछ गयी होगी तो यही कहना होगा कि उन्हें जड़ता ने बुरी तरह घेर लिया था।

बुद्धिवादियों की जड़ता संस्कृति का भीषण अभिशाप है। जब बुद्धिवादियों की संवेदनक्षमता सूख जाती है तो पाशवी बल के दुर्निवार आग्रह से मनुष्य बच नहीं पाता। बड़े-बड़े लोग अपने प्रति सदय हो उठते हैं, तो फिर दूसरे दरजे के आन्दोलनकारी लोग सामर्थ्य के समस्त क्षेत्रों पर अधिकार कर लेते हैं। वे भी अधिक समय तक झेल नहीं पाते। ऊँचा स्थान, बौना इनसान—उलटा हिसाब शुरू हो जाता है। उलटे हिसाब का चक्र द्रोण ने युगों पूर्व चलाया था; वह आज भी चल रहा है। द्रोण चले गये, छटपटाहट बाक़ी है। अश्वत्थामा के रूप में वह अमर है। जिस अस्त्र के कारण अश्वत्थामा अजेय रहा, बल्कि चिरजीवी हो सका, उस ने अश्वत्थामा को कौन सा सुख दिया? उस ने द्रौपदी के निद्राधीन पुत्रों की हत्या की; परन्तु माता के दुख को जान कर द्रौपदी ने उसे जीवनदान दिया। अश्वत्थामा की माता ने क्या देखा? पुत्र का अखण्ड रिसता माथा! वेदना जो मिटना नहीं जानती। खाक छानते हुए भटकना जो कभी समाप्त ही नहीं होता। और, याचना। एकलव्य मर गया, सन्तोष ले कर गया कि गुरुचरणों में सर्वस्व समर्पित कर चुका हूँ। फिर भी उस की अघोरी प्रवंचना की उत्तरकथा को समाप्त करना व्यास की शक्ति के बाहर की बात है। जब तक वर्णसंकर ईर्ष्या से ग्रस्त बुद्धिवादी जीवित रहेंगे, तब तक राई का तड़का बराबर लपटें फैलायेगा।

दुख को पी जाना एक श्रेष्ठ तपस्या है। समस्त कलाएँ, दर्शन, सौन्दर्य आदि की सार्थकता दुख पीने की शक्ति में निहित है। मुक्त दुख अभिनव प्रज्ञा देता है। बन्द कर दीजिए उसे पुराने अनुभव के जड़ सम्पुट में, उस की सृजनशीलता रुक जायेगी। द्रोण के साथ यही हुआ। एकलव्य सब कुछ पी गया; और द्रोण अश्वत्थामा के संकुचित प्रेम के कारण कहीं के न रहे। उन के इसी प्रेम ने उन की ज्ञान-तपस्या को भंग कर दिया; और जब उन के पुत्र-प्रेम को लक्ष्य कर युधिष्ठिर ने कहा 'नरो वा कुंजरो वा' तो द्रोणाचार्य धराशायी हो गये। पुत्र-मरण का दुख द्रौपदी जैसी नारी समझदारी से सह सकी, नये सिरे से औदार्य का पाठ पढ़ सकी, उसे द्रोण जैसे आचार्य, शूर-वीर नहीं सह सके। रणभूमि से बाहर द्रोण वीर पुरुष नहीं थे। विद्या के अखाड़े के बाहर वे ज्ञानी नहीं थे। उन्होंने जतन से रखा राई का धधकाने वाला व्यक्तित्व। इस क्षुद्र व्यक्तित्व की शोकान्तिका यदि कहीं उद्घाटित होती है तो युधिष्ठिर की उसी गुरुद्रोह की घटना में। युधिष्ठिर को कलंक का टीका लेना पड़ा, कभी न धुलने वाला टीका, परन्तु व्यावहारिक व्यास ने यहीं तो द्रोण के साथ आधिकारिक स्वर में न्याय किया है। कैसा हृदयद्रावी है यह न्यायदान का एकांगी रूप! एकलव्य के साथ जो अन्याय हुआ उस के कर्ता-धर्ता दो व्यक्ति हैं: द्रोण और अर्जुन, अर्थात् पाण्डव। व्यावहारिक व्यास ने उन्हें सभी प्रकार के उत्तरदायित्व से मुक्त कर दिया। आगे चल कर जब इन गुरु-शिष्यों के बीच प्रतिकूलता आयी, तब व्यास युधिष्ठिर को दोष दे कर अलग हो गये। विजय के अधिकारी हुए पाण्डव, व्यास यह दिखाना न भूले। उन्होंने न्यायदान का सम्मान भी पाया। परन्तु इस न्याय से सौगुना बड़ा अन्याय उन्होंने आरम्भ में किया था, उस का निवारण करना तो दूर रहा, वे यह श्रेय तक नहीं ले पाये कि अन्याय कभी और कहीं न होने दें। पाण्डव अवश्य दोहरे अन्याय के उत्तराधिकारी हुए। महान्, जानकार मनुष्यों का यही दौर्बल्य-चक्र लगातार घूम रहा है—कौन रोकेगा उसे?

जकड़े हुए क्षितिज

जब-जब अश्वत्थामा याद आता है, मेरा दम घुटने लगता है। एक बहुत बड़ा बिल्लौरी आईना हो, टूट कर अनगिन टुकड़ों में बिखरा हो, हर टुकड़ा विश्व के उतने ही अंश को बराबर प्रतिबिम्बित करता हो, जितना उस में समा सकता हो, और ये इकहरे प्रतिबिम्ब एक-दूसरे से ज़रा भी सम्बद्ध न हों, फिर भी वे सब किसी एक ही वस्तु को बिम्बित करते हों—तो क्या बनेगा ? अश्वत्थामा का व्यक्तित्व ऐसे ही बना है। द्रोण, पाण्डवों और युधिष्ठिरादि के बीच वह टूट गया। युद्ध द्वारा तोड़ दिया गया व्यक्ति देखना हो तो अश्वत्थामा को देखिए। युद्ध ने उस के समूचे व्यक्तित्व में वक्रता भर दी है। रौद्र, भयानक परन्तु अन्त में विषण्ण पुरुष महाभारत में अन्य नहीं है। उस के विदीर्ण व्यक्तित्व के कणों को जो मानसिक कड़ी जोड़ती है, वह है उस की सरलता, उस का बालभाव। अश्वत्थामा अन्त तक भगोड़ा शिशु ही बना रहा। वह वीर बन सका, जानकार नहीं हो सका; सयाना न हो सका। वह योद्धा तो बन गया, पुरुष न बन सका। नपुंसक वह नहीं था, किन्तु उस का हृदय किशोरावस्था को लाँघ नहीं पाया। जब आदर्शवाद किसी अपरिपक्व नवयुवक पर हावी हो जाता है, तो उसे विकृतियाँ झेलनी पड़ती हैं—अच्छी हों या अनिष्टकारी—; अश्वत्थामा भी उन से बच न पाया। अपनी जाज्वल्यमान वृत्तियों को मनोरमता देना, आदर्शवाद को मुक्त स्वरूप देना उस से नहीं बन पाया। इस लड़के ने न ठीक से सपने देखे और न वह वास्तविकता के संग अच्छा-भला नाता जोड़ पाया। वह हमेशा सकपकाया सा, कायर न होते हुए भी गड़बड़ाया सा दिखाई देता है। कुछ था उस के पास, जो खो गया है; और अश्वत्थामा घबराया सा उसे खोज रहा है। कोई देख लेता है तो अश्वत्थामा सकुच-सिकुड़ कर खड़ा रह जाता है। सामने संकट मौजूद हो तो, तभी, वह तन कर खड़ा रहता है और दृढ़ता से, आत्मविश्वास से उस का निवारण करता है। बोलना वह नहीं जानता। संसार की ओर चौकन्नेपन से नहीं देख पाता; पर, है ममतालु। अपनी सुरक्षा के प्रति वह जागरूक है। पिता से प्राप्त ब्रह्मशिर-अस्त्र के बल पर वह सारे ब्रह्माण्ड को भस्म कर सकता था, बारह वर्ष तक धरती को निर्बीज कर सकता था। महारथियों को कँपा देने वाले अस्त्र उस ने विद्यार्थी-दशा में प्राप्त कर लिये थे। वह मूलतः अन्तर्मुखी है परन्तु अन्तर्मुखता किसी निगूढ़ सत्य का साक्षात्कार नहीं

कराती। कारण, उस की कल्पनाशक्ति अधूरी थी। उस की वासनाएँ रस-रंग-रहित थीं। उस के पौरुष के क्षितिजों को उसी के पिता ने वात्सल्य के विपरीत उद्रेक में जकड़ रखा था। विपरीत वात्सल्य की मज़बूत पकड़ से अश्वत्थामा कभी मुक्त नहीं हो पाया।

संयोगवश युद्ध हुआ। महान् से महान् सेनानी एक के बाद एक धराशायी होते चले और उड़ते प्राणों के क्षीण कण को धूल में मिलाते हुए दुर्योधन की इच्छा का अंकुर अश्वत्थामा की विशिष्ट युद्धकृति में फूटा। उस के सेनापतित्व में धूल, लहू, गिद्ध, जकड़ी हुई कालिमामय दिशाएँ, असंयत वैर, अतिशय वैराग्य और निराशा—सब का घोल हिलता दिखाई पड़ता है। वस्तुतः सेनानी की भूमिका अश्वत्थामा की स्वाभाविक भूमिका नहीं है। वह भीष्म, द्रोण, कर्णादि के उपयुक्त थी। अश्वत्थामा के व्यक्तित्व में सुसंस्कृति, प्रगल्भता और टटकापन न था, जो वह सेनापति का अभिनय सफलता से कर पाता और न थी कल्पनाशीलता। एक के बाद एक व्यक्तित्व नष्ट हो गये और यह ताड़ जैसा धींगड़, निष्ठावान्, बलिष्ठ लड़का मात्र प्रसंगवशात् सेनापति बन गया। यह ढीलमढाला, डीमडाम वाला पद अश्वत्थामा के लिए बहुत बड़ा था। युद्ध ने उस के रक्त और स्नायुओं में फ़ुरती पैदा की, लेकिन उस का मन ज़रा भी तरलता न जगा सका। वह जैसे नशे में झूम उठा; किसी भी दृश्य ने उसे नहीं छुआ। पिता की मृत्यु की घटना ने उसे जड़ से हिला दिया, परन्तु उसे नशा चढ़ा अनजान दुख का। फिर आयी मूढ़ क्रूरता और क्रूरता में जितना भी रीतापन, बाँझपन और बड़प्पन हो सकता है, वह सब अश्वत्थामा के माथे पड़ा।

अश्वत्थामा के सारे जीवन पर घना कोहरा छाया हुआ है। व्यास ने उस के जीवन-नाट्य के मात्र चार प्रसंगों को प्रस्तुत किया है और इस अधूरे बिखरे नाटक को बग़ैर जोड़-तोड़ के परे सरका दिया है। मनमाना दावँ नहीं सधा तो खेल ही खतम कर दिया है। यही कारण है कि इस अधूरे और बिखरे खेल को नये सिरे से जमाना किसी के बस की बात नहीं है। पहला प्रसंग शैशव का है जब अश्वत्थामा के लिए दूध पाना दूभर था। दरिद्री पिता का लालची बेटा आटा-घुला पानी दूध समझ कर पीता है और खुशी से नाच उठता है : 'मैं ने दूध पिया!' शैशव का यह भोलापन कोई दुर्लभ वस्तु नहीं है, न यहाँ व्यक्ति की विशिष्टता ही व्यक्त होती है। यह प्रसंग दारिद्र्य का एक दारुण भाष्य है, अविस्मरणीय। यदि विशेषता है तो यह वैषम्य का भाष्य इसी बच्चे के सन्दर्भ में अमरवाणी में किया गया है। इसी अमरवाणी ने अश्वत्थामा के जीवन की पृष्ठभूमि अंकित की है। सही है कि पृष्ठभूमि के कारण इर्द-गिर्द कोहरा फैल गया है, फिर भी यहाँ-वहाँ बिन्दु-बिन्दु में उकेरी गयी अश्वत्थामा की आकृति कल्पना के बल पर साकार हो जाती है।

दूसरा प्रसंग अश्वत्थामा की विद्यार्थी-दशा का है जो दो दृश्यों में विभाजित है। द्रुपद द्वारा अपमानित द्रोण उसे पुत्र-पौत्रादिकों सहित नष्ट करने की प्रतिज्ञा कर के लौट आते हैं और प्रतिज्ञा-पालन का आरम्भ पुत्र को विद्या दे कर करते हैं। बाद में

आते हैं कौरव और पाण्डव। अश्वत्थामा के स्वतन्त्र और सहज व्यवहार का अत्यन्त अल्प और एक ही वाक्य में समावृत मनोज्ञ चित्र व्यास ने अंकित किया है। मेरी समझ में नहीं आता कि उसे कौशल कहें या त्रुटि—और यह भी कैसे कहें कि व्यास इतना भी नहीं जानते थे कि चित्र को अधूरा छोड़ना उचित नहीं है ?

द्रोण हस्तिनापुर में नये-नये आये हैं। नाम-ग्राम छिपा कर वे कृपाचार्य के यहाँ रहते हैं। पाण्डव वहाँ खेलने चले आते हैं। सब से छिप कर अश्वत्थामा खेल में भाग लेता है। पाण्डवों के प्रति उस में गहरी मैत्री उत्पन्न हो गयी तो एक दिन इस सीधे-सादे, भोले-भाले लड़के ने अर्जुन को—अपने लाड़ले दोस्त को—अपनी युद्ध की विद्या सिखायी। राजपुत्र की मैत्री, कितना बड़ा सौभाग्य ! क्या कृतज्ञता जताने की खातिर विद्या सिखायी ? क्या निर्धनता उसे भीतर ही भीतर कुरेद रही थी ? इस में तनिक सन्देह नहीं कि अश्वत्थामा ने जो भी दिया वह उदारता से, ऊँचे भाव से, कुछ लजाते हुए और खेल-खेल में दिया। किसी को बताया नहीं, सुनाया नहीं; मात्र मैत्री का ऋण चुकाया। ऐसे, जैसे चिड़िया चोंच से अपना अंश खिलाती है। खेल का रंग जमते न जमते पिता की आक्रामक नीति प्रकट हो जाती है और अश्वत्थामा सिमट आता है। संकोच से भर जाता है। द्रोण ने खुलेआम कौरव-पाण्डवों को विद्या सिखाना शुरू कर दिया और अश्वत्थामा की सहजता को दबा दिया।

अर्जुन नहीं भूलता अश्वत्थामा की भोली प्रेमालुता, उस की ऋजुता। इसे गुरुपुत्र के प्रति भक्ति नहीं कह सकते, यह प्रमाण है मनुष्य का मनुष्य को चीन्हने का। द्योतक है दोस्ती की विशुद्धता का। द्रोण की मृत्यु ने अर्जुन को बहुत तड़पाया। उसे क्रोध आया यह जान कर कि युधिष्ठिर ने अश्वत्थामा जैसे सरलहृदय व्यक्ति के साथ छल किया। इस कुकर्म के सम्बन्ध में युधिष्ठिर को दोष देते हुए अर्जुन ने कहा, "अश्वत्थामा अलौकिक है; वह सम्पूर्ण जीव-सृष्टि से प्रेम करता है।" युद्ध के दौरान दुर्योधन की मृत्यु होने तक वह पाण्डवों के प्रति सौहार्द दिखाता रहा। घटोत्कच को वह 'वत्स' कह कर पुकारता है; कहता है, "तुम मेरे वैरी नहीं हो।"

कर्ण के पुत्र के निधन के पश्चात् कर्ण और अर्जुन में घमासान युद्ध होता है, तभी अश्वत्थामा दुर्योधन से कहता है, "दुर्योधन, पाण्डवों से वैर मत रखो। युद्ध का धिक्कार करता हूँ मैं। मैं और कृपाचार्य अवध्य हैं। तुम पाण्डवों के साथ मिल कर राज्य करो। अर्जुन मेरा कहना मान कर शान्त हो जायेगा और युद्ध नहीं करेगा। कृष्ण भी विरोध नहीं चाहते। युधिष्ठिर भूत-हित में रत है। भीम तथा दूसरे भाई उस की आज्ञा मानते हैं। शन्ति रखो और समझौता कर लो।"

दुर्योधन उस का कहना नहीं मानता, यह देख कर अश्वत्थामा को गुस्सा आ जाता है। परन्तु युधिष्ठिर की भूत-हित की प्रवृत्ति का लाभ नहीं पाता मात्र एक अश्वत्थामा ! उस के कथन और प्रत्यक्ष घटित के बीच जो विरोधाभास महाभारत में दिखाया गया है, वह बेजोड़ है। इसी विरोध के फलस्वरूप आगे चल कर अश्वत्थामा

की क्रूरता को प्रतिद्वन्द्वियों के विश्वासघात की स्वाभाविक पीठिका प्राप्त होती है।

द्रोण की मृत्यु तक पिता और पुत्र में एकता थी : शरीर की और मन की। मन की एकता ही अश्वत्थामा के विकास की राह का काँटा बन गयी। विलुप्त हो गया उस का मधुर, उदार और लज्जालु व्यक्तित्व। वह जन्म से महत्त्वाकांक्षी नहीं था। पिता ने अपनी आकांक्षा उस पर लादी। पाण्डवों के प्रति दोनों के हृदय में प्रेम था। फिर भी द्रोण ने विद्या-दान के सम्बन्ध में पक्षपात किया। अश्वत्थामा भी पिता की इच्छानुसार अन्य कुमारों के साथ पानी भरने जाता था। पिता उसे चौड़े मुँह वाला घड़ा थमा देते थे। उस का काम सब से पहले समाप्त हो जाता था। उस के लौटते ही पिता उसे बुलाते और ज़्यादा सिखाते। वह पिता की आकांक्षा जानता ही था। क्या ऐसा तो नहीं कि इसी उम्र में पिता के मानसिक संघर्ष का प्रतिबिम्ब पुत्र पर पड़ा हो? पिता के पक्षपात का विरोध अश्वत्थामा ने नहीं किया। जो कहा गया उसे चुपचाप मान लिया। स्नेही और दृढ़संकल्प पिता का आदेश हर पुत्र मानता है, अश्वत्थामा ने भी यही किया। शायद चढ़ती आयु के साथ द्रोण की धाक के सामने झुक गया हो। इस सम्बन्ध में उस का मानसिक संघर्ष कहीं भी दिखाया नहीं गया है। इस से यही मानना होगा कि अश्वत्थामा में वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षाएँ नहीं थीं। उत्कृष्ट योद्धा अनुशासन का भक्त होता है और अनुशासन ने अश्वत्थामा को कहीं का न रखा। दूसरी ओर जीवन में सुख था, सुरक्षित था वह। राजकुल से चिपके रहने में ही इन ब्राह्मण पिता-पुत्र योद्धाओं को इतिकर्तव्यता प्रतीत हुई। दोनों में परशुराम की स्वतन्त्र युद्ध-प्रतिभा नहीं थी। दोनों आश्रितों की सुस्थिति और विवशता का आहार बन चुके थे। इस के बाद वर्ष पर वर्ष बीत गये। अश्वत्थामा तो जैसे सुस्थिति में गड़ चुका था। यौवन की पहली बहार आती है, चली जाती है। उस समय वह क्या करता है, कैसा व्यवहार करता है, उस की मानसिक स्थिति क्या थी, कौरव-पाण्डवों के सतत बढ़ते वैर की स्थिति में वह कहाँ है—व्यास हमें कुछ नहीं बताते। वह गृहस्थाश्रमी था, सुखी सांसारिक जीव था, इस से अधिक हम नहीं जान पाते।

उस के बाद एकाएक उस के दर्शन होते हैं युद्ध की दावाग्नि के बीच। उस का उच्च कर्कश रव सुनाई पड़ता है पिता की मृत्यु के उपरान्त। कहते हैं जन्म पाते ही अश्वत्थामा घोड़े की तरह हिनहिनाया था—शिशु इतने ज़ोर से रोया था, अत्यन्त बलिष्ठ था इसी लिए। इसी लिए उसे अश्वत्थामा के नाम से पुकारा गया। परन्तु उस का कर्कश चीखना उभरा युद्ध के विकराल आक्रन्दन में, क्रूर गर्जन में। यों, वह क्रोधी था; क्रोध हो आता तो किसी के बस में न रहता। उस के विषय में एक ख्याति थी ही : अगर ठान लेगा तो जघन्य से जघन्य कर्म करते न हिचकेगा। धृष्टद्युम्न को अर्थात् पाण्डवों को पिता की अधर्मपूर्वक हत्या करते हुए देखा तो अश्वत्थामा का क्रोध दुर्निवार हो उठा। वैर किराये का न रहा, निजी हो गया। पृष्ठभूमि में पाण्डवों द्वारा कर्ण, भीष्म और दुर्योधन की कपटपूर्ण हत्या थी ही। उस कपट को स्मरण कर-कर के

अश्वत्थामा ने उन्हें गन्दी-गन्दी गालियाँ दीं। श्रीकृष्ण ने उसे पापात्मा कहा। उस के जीवन का एकमात्र लक्ष्य रह गया : पिता की प्रतिज्ञा की पूर्ति।

दुर्योधन उस का राजा था, सखा था। उस की अन्तिम इच्छा ही अश्वत्थामा का कर्तव्य हो गयी। पिता और राजा की इच्छा में पहली बार उस की निजी इच्छाएँ विलीन हो गयीं, और वह सेनापति बना। यही तीसरा प्रसंग है, जिसे व्यास ने विस्तार से वर्णन किया है। विस्तार की यह विशेषता है कि जिज्ञासु उस में खो जाता है; वह अच्छी-खासी भूलभूलैया है। विस्तृत प्रसंग के इर्द-गिर्द और आगामी प्रसंगों के चारों ओर व्यास ने जो कोहरा सा फैलाया है, वह अपूर्व है। खूबी यह है कि दृश्य आलोकित दिखाई पड़ते हैं और लिपे-पुते से भो। इन्हें व्यास का साहित्यिक मयगृह कह लीजिए! उलटा-सीधा सब एक हो गया है, परिमाण खो गये हैं। रेखाएँ इतनी मोटी कि दरारें दिखाई पड़ती हैं। बल्कि, यही कहना होगा कि दरारें ही अश्वत्थामा की तत्कालीन मनोवृत्ति और कृति की प्रतीक हैं। दोनों प्रसंगों का मूलाधार विसंगति है और सब से बड़ा चमत्कार यह है कि विसंगति दर्शन की सुसंगति लिये हुए है। भगवद्गीता का वह रोमहर्षक प्रसंग और उस का वही पुराना दर्शन उलटा कर के अपनाया गया है। वस्तु के प्रतिबिम्ब की भाँति। इस दृष्टि से देखें तो इस प्रसंग में सेनानी अश्वत्थामा अर्जुन की भूत जैसी परछाईं दिखाई पड़ता है। न दिखता, तो आश्चर्य होता। क्रान्तदर्शी व्यास की प्रतिभा एवं प्रज्ञा यथार्थ के चित्रण के बहाने, वास्तविक व्यक्ति के आधार पर अज्ञेय का चित्रण करने का साहस कर रही हैं। आकृति वास्तविकता से भरी है, रंग अवास्तविकता के हैं। शब्द परिचित हैं, दृश्य अनजाने नहीं हैं। आगामी भयानक की सूचना मिल चुकी है। दुर्योधन की मृत्यु का अर्थ है एक पक्ष का सर्वनाश। वस्तुतः युद्ध यहीं समाप्त हो जाना चाहिए; लेकिन ऐसा नहीं होता। दुर्योधन का प्राणोत्क्रमण तत्काल नहीं हुआ। दो-चार दिन तक दम अटका रहा। यह तथ्य सारे प्रसंग में नाट्यमय तनाव पैदा करता है। तनाव का तीखापन अश्वत्थामा की विलक्षण गतिशीलता और प्रचण्ड शक्ति से प्रभावित कृति में देख लीजिए। फिर भी गति और कृति में कोई जयिष्णु प्रेरणा नहीं है। वह सम्पूर्णतः अभावात्मक है। उस में विनाश का आवेश है। मृत्यु और जीवन का प्रत्येक विकट आविष्करण भरा है। पराजय ने अश्वत्थामा को उकसाया; अहंकार ने नहीं। उस के हृदय में स्थित विद्वेष प्रचण्ड मृत्युमय अन्धी शक्तियों से जुड़ गया। वह केवल अपना संरक्षण नहीं चाहता था; उसे स्वामी के राज्य की रक्षा नहीं करनी थी; वह केवल बदला लेना चाहता था। धृष्टद्युम्न से और पाण्डवों से। उन्मनस्कता में वह जो शब्द कहता है, वे देह की नश्वरता और आत्मा की अमरता का बखान करते हैं। युद्ध के प्रारम्भ में सम्भ्रमावस्था को प्राप्त—अपने ही लहू से। कैसे लड़ें?—हाड़-मांस के अर्जुन को यह रणांगणोचित दर्शन बताना एक बात है; और पिशाच मनोवृत्ति को प्राप्त अश्वत्थामा का कृपाचार्यादि अर्धमृत, विमूढ़ जनों के आगे युद्ध की समाप्ति के क्षण में उसे दुहराना

बिलकुल अलग बात है। इस में न तो दैवाधीन मनुष्य की लीन मूढ़ता है, न दर्शन के लिए आवश्यक एक उभार है। चौखट भी मात्र स्वामिभक्ति की है।

दर्शन के आविष्करण से बड़ा चमत्कार आगे ही है। स्वयं पिशाचवत् बने अश्वत्थामा को भूत-प्रेतों को देख कर अनाकलनीय धक्का लगता है। इस का आरम्भ बहुत डरावना है और व्यास ने अत्यन्त उपयुक्त प्रतीक-विधान किया है। पाण्डव जिस रोज़ अश्वत्थामा को हराते हैं, उसी रात उसे कौओं के अण्डों-बच्चों को खाने वाला उल्लू दिखाई पड़ता है। कल्पना जगती है: धृष्टद्युम्न और द्रौपदी के पुत्रों की सोते समय हत्या क्यों करें? अपंग मनुष्य की अधूरी कल्पना उसे पूरी तरह खा लेती है। कृप का निषेध अश्वत्थामा ने नहीं माना। उस की कामना इतनी ताकतवर थी कि बाद में कृप ने तक उस की अधीनता मान ली।

धृष्टद्युम्न के शिविर-द्वार पर अश्वत्थामा को भूत दिखाई दिया। विकृत-विकराल, आग फैलाता और विशालकाय। भूत न दिखता तो आश्चर्य होता। वह अश्वत्थामा की कुण्ठाग्रस्तता का उलटा लटका प्रतीक ही तो था। वह भूत बोलता नहीं था; अश्वत्थामा की भाँति क्रियाशील अवश्य था। क्रियाशील यों, कि अश्वत्थामा इधर से शस्त्र फेंकता और उधर वह उन्हें निगल लेता। उस ने उलट कर अश्वत्थामा पर प्रहार नहीं किया। उसे देख कर अश्वत्थामा न घबराया, न ही आश्चर्यचकित हुआ। वह घबराने की स्थिति तक को जाने कब पार कर चुका था। जब तक अश्वत्थामा सुदृढ़ शरीर धारण करता रहा, तब तक वह भय से मुक्त रहा।

भूत ने एक-एक कर सारे शस्त्र निगल लिये। अश्वत्थामा ने शिव की उपासना आरम्भ की। शिव जी ने दर्शन दिये और अश्वत्थामा से बोले, "कृष्ण मेरे प्रिय हैं, इसी कारण उन का आदर करते हुए मैं ने अब तक धृष्टद्युम्न और द्रौपदी के पुत्रों की रक्षा की है। वे सब मृत्यु के कराल गाल में फँसे हैं। उन की मृत्यु अटल है; मृत्यु की अटलता के निमित्त मैं तुम्हें उन के विनाश के लिए मृत्युंजय शस्त्र देता हूँ।" कहना न होगा कि यह विराट-स्वरूप कृष्ण के कराल गाल में फँसे योद्धाओं के दर्शनों और उक्तियों का फीका संस्करण है। भले ही वे दर्शन अश्वत्थामा के लिए आश्वासक हों, विश्वरूपदर्शन की भाँति वे प्रेरणादायक नहीं हैं। वे कराये गये हैं तो केवल युद्ध के संहार का घड़ा पूरा भरने के लिए। वे भक्त और भगवान् के नैसर्गिक उद्रेक से उद्भूत नहीं हैं; वे परिणति हैं अश्वत्थामा की उग्र आत्माहुति की निश्चयात्मक चुनौती की। यहाँ ईश्वर करुणामय हो कर भक्त की ओर नहीं मुड़ा; यहाँ तो वह दैववादी चिन्तन उभरा है जो मानता है कि यदि दैव ने मृत्यु लिख दी है तो उसे अधिक समय तक रोका नहीं जा सकता। शिव जी के दर्शनों में और शस्त्रदान ने अश्वत्थामा को वांछित वस्तु और शक्ति दी। मूल्य दे कर वस्तु पाने की तरह। उस ने नहीं पायी करुणा, शुद्धि, मुक्ति और शान्ति। शत्रु के विनाश के बाद भी उस की वैर-भावना तृप्त न हो सकी। निद्राधीन धृष्टद्युम्न को मारने से पहले अश्वत्थामा ने पाँव हिला कर जगाया

परन्तु उसे सँभलने का अवसर नहीं दिया। यही नहीं, उस ने धृष्टद्युम्न को शस्त्र से मारना स्वीकृत नहीं किया। उसे वीरोचित मरण से वंचित करने के लक्ष्य से पशु की तरह पैरों तले रौंद कर मारा। अश्वत्थामा उस क्षण पशु बन गया था।

दुर्योधन के सामने उस ने बताया कि पाण्डवदल के वीरों को किस तरह नष्ट किया। बताया कि अब पाण्डवों के सात और कौरवों के तीन योद्धा शेष हैं। दुर्योधन ने युद्ध की समाप्ति का हाल सुना। अश्वत्थामा ने बदला लिया, उस के और अश्वत्थामा के सन्तोष का यही मिलन-विन्दु था।

शिव-दर्शन के वर द्वारा व्यास ने जैसे अशुभ भावी का संकेत दिया है। कृष्ण द्वारा अश्वत्थामा की भर्त्सना करा कर, अधर्म आचरण की निन्दा करा कर उस के माथे का मणि छीन लिया है। पाण्डवों के संहार के उद्देश्य से अश्वत्थामा ने ब्रह्मशिरास्त्र का प्रयोग किया था। द्रोण ने बताया था कि इस अस्त्र का प्रयोग कभी मत करना। अश्वत्थामा ने न माना। द्रोण के साथ, अपने पिता के साथ वह अब तक बँधा था, वह नाता भी टूट गया। अब अश्वत्थामा डोर था; कटी पतंग की डोर, अम्बर में झूलती। प्रतिहिंसा का पिशाच दुर्निवार हो उठता है। पाण्डव नहीं हैं तो कोई बात नहीं, मैं उत्तरा के भ्रूण की बलि लूंगा—बड़ी मुश्किल से कृष्ण का कहना मान कर वह अस्त्र वापस लेता है। उस का मणि छिन गया। जिस मणि के प्रभाव से भूख, प्यास, भय आदि का निवारण होता था, वह मणि द्रौपदी माँगती है और कृष्ण उसे देते हैं। मणि का उल्लेख कर व्यास एक छोटी सी विसंगति दिखा देते हैं। यह मणि अश्वत्थामा के पास जन्म से था। प्रश्न है, यदि जन्म से था तो बचपन में दूध के लिए भूखा क्रन्दन क्यों ? लगता है, मणि-विषयक धारणा कहीं गड़बड़ा गयी है। कहीं कुछ था जो खो गया है, पोंछ डाला गया है। मणि जाता रहा (विसंगति छोड़ दें तो) और बचपन की क्षुधा ने घेर लिया। अश्वत्थामा भूख-प्यास का शिकार हो गया, विवश और दुर्बल। चमत्कार की बात यह कि स्वयं व्यास ने मणि दे देने का आदेश दिया। व्यास ठहरे स्वामी; उन के आदेश की अवहेलना अश्वत्थामा करे भी तो कैसे ? स्वामिभक्ति का मण्डल उसे घेर कर उलटा-सीधा, आड़ा-तिरछा घूमता रहा। अश्वत्थामा ने कहा कि उत्तरा के भ्रूण को नष्ट कर, छोटे से छोटा विनाश कर अस्त्र लौट आयेगा; वही हुआ। यद्यपि श्रीकृष्ण ने उत्तरा के भ्रूण को जिलाया लेकिन अस्त्र-प्रयोग के दण्ड के रूप में अश्वत्थामा को कोढ़ी हो जाने का अभिशाप दिया। अश्वत्थामा ने शस्त्र फेंक दिये; आहत और अति दीन अश्वत्थामा मुँह छिपा कर रोता-सुबकता जंगल में भाग गया, गायब हो गया।

कृष्ण के कथनानुसार अभिशप्त अश्वत्थामा आज भी धरती को नापता भटक रहा है। उस ने सात चिरंजीवियों में अवश्य स्थान पाया; परन्तु अश्वत्थामा अभागा चिरंजीवी है। बलि को भगवान् ने पाताल में गाड़ दिया था, फिर भी उसे पुण्यात्मा ही कहना होगा। कहते हैं, आज भी बलि अदृश्य रूप में दिवाली में घर-घर अनाज

लूटने जाता है। हनुमान् चिरंजीवी हैं; वे विविध रूपों में भक्त की कामनाएँ पूरी करते हैं। प्रसूताओं के भय का निवारण करते हैं। श्मशान में प्रेतों की रक्षा करते हैं। अमावस-पूनम के रोज़ डायनों का नाच देखते हैं। मन्त्रसाधकों को सिद्धि देते हैं। नाना प्रकार से मनुष्य की सहायता करते हैं। अन्य चिरंजीवी मनुष्य के जीवन में हस्तक्षेप नहीं करते। और अश्वत्थामा है, जो संसार के हर एक मनुष्य के दुख-दैन्य की साकार निशानी बन कर जी रहा है। एक कोढ़ी है जो अकेला, परित्यक्त, दीन याचक बना नगर-नगर, ग्राम-ग्राम भटक रहा है। कहते हैं, वह माथे का ज़ख्म दिखाता है और तेल और चिन्दियाँ माँगता है। उस मुँड़चिरे से लोग डरते हैं। जो तेल नहीं देता, उसे वह अभिशाप देता है। महारोगी संसार को कोई वरदान नहीं दे सकता—यह डरावना, व्यावहारिक सत्य है, जो अश्वत्थामा के चिरंजीवित्व की कल्पना का रूप धारण कर सारे भारत में सैकड़ों वर्षों से घूम रहा है।

रोग को भुगतते समय व्यथा के गर्भ में एक सुकुमार सत्य छिपा रहता है। कृष्ण ने उल्लेख किया है कि आर्त के भक्तिभाव में परम विनम्र सत्य निवास करता है। आर्त की मौन सहिष्णुता में एक विशेष सौन्दर्य होता है। क्या इसी सौन्दर्य को समझने के कारण अश्वत्थामा मरण-वर की अपेक्षा नहीं करता? उसे मृत्यु का वरदान न दे कर व्यास ने अन्तिम गहरा कलात्मक पेंच डाला है। नहीं मिलती मृत्यु, न कृतार्थता, न शान्ति, न मिटते हैं वैर, प्रतिहिंसा: शेष रह जाती है सिर्फ़ धधक। शारीरिक वेदनाओं का अपार अनुभव। क्या अश्वत्थामा सुझाना चाहता है कि इस वेदना में जो कभी नहीं थमती, इस जीवन-यात्रा में जो बिलकुल अकेले रह कर करनी होती है, इस दारुणहीन अवस्था में भी एक शक्ति है जो मृत्यु की भव्यता को नीचा दिखाती है? सूक्ष्म और भव्य, दोनों से परे इस धधकती अवस्था के स्थायित्व में भी निस्सन्देह कुछ है जो अलौकिक है और आकर्षक है, जो मुँह-देखे की दया से दूर रहता है। परन्तु वह इतना अलौकिक है और इतना आतंककारी है कि उस का नामकरण नहीं किया जा सकता। कभी-कभार उस की हलकी सी प्रतीति हो जाती है वहाँ, जहाँ अति दीनता होती है, दुरवस्था होती है। वही है अश्वत्थामा की चिरंजीवी व्यथा का और व्यक्तित्व का साक्षात्कार। खुले आसमान के नीचे धरती पर संचरण करते हुए भी, अनुभव के अर्जित विश्व को जान-बूझ कर बिखरा कर अश्वत्थामा चारों क्षितिजों को अपने पास खींचता है, और अपने को बन्द कर लेता है। यह बन्द हो जाने, दम घुटने की आदत नहीं छूटती उस की। पिता का नाता टूट गया; स्वामी की स्मृति भी मिट गयी। इस अखण्ड बन्दी बने मनोमय जगत् में अक्षय संचरण करने का दृढ़संकल्प किया है अश्वत्थामा ने, उसे प्रारब्ध मान कर; और वह लगातार भटक रहा है। उसे कोई सन्देश नहीं देना है। क्या वह यही तो नहीं दिखाना चाहता कि अमरता में अंकुर नहीं फूटते; कि वह सर्जनशील नहीं होती।

खोयी व्यक्तिरेखा का मनुष्य

नारियल के पेड़ की जड़ें धरती के बाहर निकल आती हैं, नंगी दिखाई पड़ती हैं। उड़ा-बुझा सा रंग होता है उन का। इतने लम्बे, तने खड़े पेड़ की इतनी सूखी छितरी जड़ें देख कर मेरा हृदय विषण्ण हो जाता है। यह ध्यान में ही नहीं आता कि पेड़ का माथा आकाश को छू रहा है। पेड़ के पाँवों का न कोई रंग है, न आकार है। आधार इतना ही कि जल आसपास रहे; रेती पोषण करे। बालू की बाँझ निकटता में ही जीवन बीत जायेगा, जड़ें मानो यही कहती हैं।

दुर्योधन का चित्र आँखों में जब-जब तिर जाता है, ऐसी ही विषण्णता घेर लेती है। दिखती हैं उस के व्यक्तित्व की सूखी छितरी जड़ें। व्यास ने उस के व्यक्तित्व का चित्रण सिर्फ़ एक रंग से, खलता के रंग से किया है। खूबी यह कि दुर्योधन का विडम्बनात्मक पहलू ही दिखाई पड़े। उस का जान-बूझ कर विरूप किया गया व्यक्तित्व पैरों के पास ही ढह गया सा दिखाई पड़ता है। और व्यास हैं कि दृष्टि को उन पैरों से हटने नहीं देते। क्वचित् ऐसा क्षण भी आता है, जब व्यास उस पर एकाध किरन डाल देते हैं। किरण के उजाले में दुर्योधन का माथा आकाश छूता दिखाई देता है, पर उस के पाँव व्यास ने ग़ायब कर दिये हैं। ऐसा लगता है जैसे कटि के नीचे सिर्फ़ एक पत्थर है। व्यास सदा ऐसे ही जड़मूढ़ व्यक्तित्व के दर्शन कराते हैं। व्यास ने दुर्योधन के व्यक्तित्व का प्रतीक माना है उस की जंघाओं को। और जंघाओं का उल्लेख द्रौपदी-चीरहरण की घटना से ले कर अन्त तक किया है। अथ से ले कर इति तक दुर्योधन मात्र खल-पुरुष है। उस की पापी बुद्धि का विवेचन करते समय उन्होंने उसे बार-बार 'मूर्ख', 'पागल' कहा है। बौद्ध-कथाओं में गौतम बुद्ध को शुद्ध-भावों का और मार को पाप-भावों का प्रतीक दिखाया गया है। परन्तु मार अत्यन्त बुद्धिमान् था। कला और सौन्दर्य का प्रेमी था। जीवन के विलास-तत्त्वों को वह अत्यन्त निष्ठा से संरक्षण देता है, संवर्धित करता है। मार का अर्थ है जीवन की उत्तेजना। दुर्योधन भी विद्यामण्डित था, कुशल योद्धा और अप्रतिम सारथी था। अच्छा-भला कर्तृत्वशील राजा था। सत्ता और अधिकार के तेज का मूल्य जानता था और पराकाष्ठा का प्रयास करता था कि वह तेज अपने भीतर स्फुरित होता रहे। दुर्योधन सूक्ष्मबुद्धि नहीं था। ज्यों-ज्यों उस के व्यक्तित्व की परतें खुलती हैं, उस की मूर्खता पर मूर्खता दिखती

जाती है। कभी-कभी मूर्खता पागलपन की सीमा तक जा पहुँचती है। ऐसे सारे प्रसंग दृष्टि के सामने आते हैं, तो उस पर दया हो आती है। उस का मस्तिष्क पक्षी की तरह सीधी उड़ान भरता था। वेग प्रचण्ड रहता; परन्तु गन्तव्य संकीर्ण। उस की बुद्धि सिर्फ़ यही देखती थी कि 'सब लूँगा, सब का लूँगा, सर्वदा लूँगा।' बाल-बुद्धि वाले अधेड़ का उदाहरण है दुर्योधन! मनचाही वस्तु नहीं मिलती तो बच्चा अनिर्वच उद्दाम भाव से जो हाथ आता है, उसे तहस-नहस कर देता है। पिटता है, पर हार नहीं मानता। दुर्योधन की यही तसवीर है। दुर्योधन का बचपना दो-एक जगह इतना सुस्पष्ट दिखाई पड़ता है कि कहते नहीं बनता।

पाण्डव वन में गये हैं; एक रोज़ लौटेंगे और राज्य की माँग करेंगे। दुर्योधन को इसी कारण नींद नहीं आती। वह रोता था, बड़बड़ाता था। एक बार शकुनि से बोला, "अगर पाण्डवों को इन्द्रप्रस्थ में लौटा हुआ देख लूँगा तो मैं अन्न-जल त्याग दूँगा, विष पी लूँगा, नहीं तो आग में जल मरूँगा। वे लौट कर आये हैं, उन्नति कर रहे हैं—यह मैं कल्पना में भी नहीं सह सकता।" शकुनि उस को फटकारता है, "राजा हो कर भी तुम कैसा बचपना दिखाते हो?"

राजसूय-यज्ञ के बाद पाण्डवों की उन्नति देख कर मत्सर से जलते दुर्योधन की कल्पना ने बालिश अंकुर उगाये हैं। वह अपनी कल्पनाओं का वर्णन कर्ण के सामने करता था—बग़ैर मन का भेद कहे उस के पेट का पानी न पचता था। स्वयं सोच-विचार कर निर्णय करने की शक्ति का नितान्त अभाव था उस में। यही कारण था कि उस का दिमाग़ हमेशा दूसरों का कहा मानता था; तुर्रा यह कि मन्त्रणा उस की कल्पना के अनुकूल होनी चाहिए। विरोध वह सह नहीं पाता था। सुनने को तैयार तक नहीं रहता था। पाण्डवों के ऐश्वर्य से जल कर दुर्योधन ने अपने तरीक़े से उसे नष्ट करने का जो उपाय खोजा, उस का स्वरूप यह है। पाण्डवों में आपस में झगड़ा करा दिया जाये। सुन्दर स्त्रियों का प्रलोभन दे कर भाइयों को फोड़ लिया जाये। जब द्रौपदी के घर में सौतें आ जायेंगी, तो उस में पक्षपात पैदा होगा और धीरे-धीरे वह पाण्डवों से विरक्त हो जायेगी। यहाँ भी एक विशेष बात यह कि स्वयं दुर्योधन के हृदय में द्रौपदी के प्रति वासना नहीं थी! यह नाक की सीध में चलने वाला पहाड़ा जो कर्ण ने सुना तो उस ने दुर्योधन को समझाया, 'पाण्डवों की एकता की जड़ में द्रौपदी है; स्त्री को बहुपतित्व प्रिय है; द्रौपदी को तो अनायास ही अवसर मिल गया है। वह क्यों छोड़ने चली है? उस के पति निर्धन थे, तब भी उस ने प्रेम किया; वैभव के दिनों में भला क्यों त्याग देगी?"

भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा और विदुर तो दरकिनार, दुर्योधन ने अपने पिता की डाँट-फटकार तक की चिन्ता नहीं की। न कभी उन का कहना माना। वह झुकता था कर्ण के सामने; केवल कर्ण के सामने। बचपन से उस की धारणा बन गयी थी कि पाण्डवों में जो भी महानता है, जो भी तेज है, जो भी पराक्रम है, वह सब अपने

पक्ष के कर्ण में ठूँस-ठूँस कर भरा है।

कैसे दुर्योधन इतना एकांगी, निरंकुश, ईर्ष्यालु हो गया जो सुखी होते हुए भी लगातार इसी चिन्ता में डूबा रहता था कि कैसे यह सुख टिकेगा; और कातर हो-हो उठता था? इस प्रश्न का उत्तर खोजने लगते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि दुर्योधन का बालिश व्यक्तित्व एकसन्ध और सरल नहीं है। मुझे उस के व्यक्तित्व में अनेक व्यक्तित्वों का सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है। बल्कि, यों कहें कि उन व्यक्तित्वों ने ही दुर्योधन की रचना की है। दो वृद्ध, अपंग हृदय और दो बाल-हृदय। अपंग हृदय धृतराष्ट्र और गान्धारी के; उस में सतत भय भरने वाला और उसे उकसाने वाला आधा बाल-हृदय और आधा तरुण-हृदय भीम का—इन्हें दुर्योधन के व्यक्तित्व से अलग नहीं किया जा सकता; और चौथा बाल-हृदय स्वयं दुर्योधन का। वह हृदय आरम्भ में सतत भीम के बाल-हृदय के समानान्तर रहा। परन्तु भीम बड़ा हो रहा था और दुर्योधन जहाँ के तहाँ था; वह ज़्यादा बड़ा न हो सका। लाड़-प्यार में पले बच्चे कभी बड़े नहीं होते। दुर्योधन का हृदय बाल-हृदय ही रहा। उस के विकास को उस के माता-पिता ने रोक दिया। लोभ की अधीनता स्वीकार करने वाला मनुष्य ज़्यादा दूर तक नहीं देख सकता।

धृतराष्ट्र और गान्धारी दुर्योधन की मृत्यु के कुछ वर्षों बाद चल बसे। मुझे लगता है, दोनों ने पूर्णता का जीवन नहीं जिया। अपूर्ण व्यक्तित्व से भी एतराज़ नहीं—आखिर पूर्ण व्यक्तित्व कौन पाता है?—लेकिन उन दोनों के व्यक्तित्व विषमता से भाराक्रान्त थे। अत्यन्त दुर्बल थे। उन के मस्तिष्क दिशाहीन भटकते थे, इसलिए जो भी बात उन तक पहुँचती थी, गहराई में पहुँच ही न पाती थी; जड़ न पकड़ पाती थी। उन के विचार ऐसे उड़ते थे जैसे हवा में तिनके। हृदय की अथाह गहराई में सिर्फ़ एक भाव आन्दोलन उत्पन्न करता था: वात्सल्य का भाव। लेकिन वात्सल्य पर सम्भ्रम का भूत सवार था। पाण्डवों के जीवन और पराक्रम का एकमेव आधार कुन्ती का प्रेम था। दुर्योधन के विषय में ऐसा नहीं था। उस के लिए माता-पिता का प्रेम हर घड़ी उपलब्ध था, माँगने पर सतत मिलता ही था। वह इसी कारण विशेष महत्त्वपूर्ण न हो पाया। एक दृष्टि से कुन्ती के कर्ण के सम्बन्ध में छिपा कर रखे वात्सल्य और गान्धारी के प्रकट परन्तु सदा सम्भ्रमित वात्सल्य में मुझे एक जैसी सघन विषण्णता दिखाई पड़ती है। जब कुन्ती ने कर्ण के प्रति अपने स्नेहभाव का उद्घाटन किया, तब वह व्यावहारिक दृष्टि से निरुपयोगी हो चुका था। पुत्र के जीवित रहते हुए भी गान्धारी का वात्सल्य अधूरा और दुर्बल सिद्ध हो रहा था। चिन्ता और लज्जा के बोझ तले चरमरा रहा था। उस का हृदय विरक्ति से भर जाता था। धृतराष्ट्र भी कभी-कभी गहरी विरक्ति अनुभव करते थे; कई बार विरक्ति नाटकीय होती थी लेकिन वह गान्धारी की न्याय-निष्ठुरता के सामने कुछ नहीं थी। जीवन के उत्तरकाल में गान्धारी ने जो समझा, वह धृतराष्ट्र नहीं समझ पाये, यह भी कैसे कहा जा सकता है?

धृतराष्ट्र के मनोभाव पोपले थे; और क्यों न होते ? वे अपंग की नियति के बन्दी थे। हीनता के भाव से ग्रस्त थे। यही हीनता का भाव ज़रा अलग तरीक़े से दुर्योधन को उत्तराधिकार में मिला था।

धृतराष्ट्र मन की गाँस नहीं निकाल पाते थे कि वे भले ही ज्येष्ठ हों, परन्तु अन्धता के दोष के कारण गद्दी पर नहीं बैठ सकते। विदुर ने हीनजन्मता और अधिकारविहीनता को आभूषण की तरह धारण किया था। भीष्म तो यह भी भूल चुके थे कि किसी ज़माने में उन्होंने स्वयं राजवैभव का त्याग किया था। उन की प्रतिज्ञा थी : 'वही लूँगा जो तुम दोगे; पिता की सन्तान की ख़ातिर अग्नि-परीक्षा तक दूँगा !' प्रतिज्ञा ने उन की प्रवृत्तियों को स्थिरता दी। लीनता की मानसिक तृप्ति मिली। धृतराष्ट्र से यह न हो सका। उन का आन्तरिक असन्तोष नाना रूपों में व्यक्त होता रहा, नाना मार्गों पर चलता रहा। महाभारत के अन्य चरित्रों की तुलना में धृतराष्ट्र में सर्वाधिक भावना-विवशता थी। धृतराष्ट्र प्रेमालु था। अन्धे को दूसरों के सहारे की ज़रूरत रहा करती है, दूसरे का विश्वास करना ही पड़ता है। तब विवशता आ ही जाती है। धृतराष्ट्र भी विश्वास करते थे; आधार के लिए विदुर, संजय, गान्धारी और दुर्योधन को मज़बूती से पकड़े रहना चाहते थे। अन्धे आदमी में अविश्वास का, संशय का तीखापन भी रहता है। संरक्षण की सतत आवश्यकता उसे ज्वलन्त कर देती है। कभी-कभी उस की धूर्तता भी प्रकट हो जाती है। अन्धे धृतराष्ट्र धूर्तता का सहारा लिया करते थे। अपंग व्यक्ति का वचन प्रायः सत्य माना जाता है; परन्तु जब व्यवहार में अपनी अपूर्णता का लाभ उठाने की वृत्ति जग जाती है, तो अपंग मनुष्य अत्यन्त धूर्ततापूर्वक अपनी दुर्बलता के बल पर सौदा करना शुरू कर देता है। धृतराष्ट्र ने यही किया। चौबीसों घण्टे बेचैन रहा करते थे : "मैं राज्य-वंचित हूँ, मेरे पुत्र भी राज्य-वंचित रहेंगे।" गंजे के नाख़ून की तरह एक चीज़ यह भी कि पाण्डु की मृत्यु के कारण यह व्यक्ति राजपद का दुर्लभ सुख प्रत्यक्षतः प्राप्त कर सका। यह उपभोग न पाता तो शायद वह भीष्मादि की सलाह मान कर चलता। दुष्प्राप्य सुख छोड़ना आसान नहीं है। धृतराष्ट्र भीष्म के अपूर्व त्याग के प्रभाव को वर्षों पहले भुला चुके थे। आदर का भाव सतही था, लेकिन यह न भुलाते थे कि भीष्म आखिर हैं तो हमारे आश्रित ही ! दुर्योधन ने ठीक इसी वृत्ति का अनुकरण किया। दुर्योधन वस्तुतः धृतराष्ट्र की सुप्त आकांक्षाओं का प्रकट कर्तृत्वशाली रूपान्तर है। दुर्योधन ने गान्धारी से दोषहीन शरीर पाया था, हृदय उस ने पिता का पाया था। प्रत्येक क्षण संशय से ग्रस्त ! पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् धृतराष्ट्र पर भीष्मादि का जो भी प्रभाव था, वह फीका पड़ चुका था; लेकिन दुर्योधन पर न कोई प्रभाव था, न बन्धन ही था। सुनी-सुनायी बातों को सत्य मान कर धृतराष्ट्र पुत्र-मोह के कारण पक्षपात करने लगे। यों, मुख से सदा सर्वदा यही कहते रहे कि 'पाण्डव मेरे लिए पुत्र

के समान हैं, पाण्डु से अधिक प्रिय हैं।' जब कि वास्तविकता यह थी कि पाण्डवों के प्रति उन के हृदय में तनिक भी आर्द्रता न थी : इसी लिए तो बारम्बार घोषणा करनी पड़ती थी।

पक्षपात का प्रारम्भ बेटों के बचपन में ही हुआ। पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् पाण्डव हस्तिनापुर आये। तब तक दोनों दलों के ये कुमार एक-दूसरे के विषय में कुछ नहीं जानते थे। कुन्ती इतनी भोली नहीं थी कि धृतराष्ट्र की द्विधावृत्ति को पहचान न पाती। विधवा माता की दृष्टि चील से भी तेज़ होती है। उतनी ही जागरूक; और मौक़ा पड़ने पर हिंस्र भी हो उठती है। अपनी सुरक्षा के लिए आवश्यक हिंस्र-वृत्ति को कुन्ती ने भीम के रूप में पाला। वह भी इस तरह कि कोई ज़रा भी न जान सके। धृतराष्ट्र ने भी यही ढंग रखा। पाण्डवों में भीम सब से शक्तिशाली था; शरारती था। अविवेकी और पेटू था; गुस्सैल था, भोला भी कम नहीं था। प्रेम करता था तो प्राण लुटाने को तैयार हो जाता था; नहीं तो प्रेम का नाटक तक न करता था। युधिष्ठिर और अर्जुन स्वभावतः शान्त थे। यही कारण था कि भीम पाण्डवों के बचपन में उन का नेता था। उसे कोई यह कह कर नहीं डाँटता था, "तुम कौरवों को दिक़ न किया करो।" शरारती बच्चा अपने साथियों में भी प्रशंसा का पात्र होता है; भीम भी था। कौरव और पाण्डवों के अलग दल बन गये। अब तक कौरवों ने सब की प्रशंसा पायी थी; अब भीम का बोलबाला होने लगा। कभी भीम कौरवों को पानी में डुबोता और जब वे मारे भय के अधमरे हो जाते तो उन्हें छोड़ देता और अट्टहास करता। वे पेड़ पर चढ़ते तो नीचे खड़ा हो कर पेड़ को ज़ोर से हिलाता और उन्हें गिरा कर ही दम लेता। दौड़ने में, खेल में सदा हराता। इसी वजह से राजमहल में 'तू-तू मैं-मैं' का माहौल शुरू हुआ।

इसी अनुभव के कारण तथा इन नवागत लड़कों के अतिक्रमण के कारण और विशेषकर इस चिन्ता के कारण कि ये लोग ही आगे चल कर राज्य के स्वामी होंगे, दुर्योधन बचपन में ही भीम का प्रतियोगी बन गया। वह भीम से दुर्बल था; दुर्बलों का वैर उन्हें अत्यन्त क्रूर और कपटपूर्ण काम करने की प्रेरणा देता है। दुर्योधन इसी वृत्ति का शिकार था। वह इतना कमअक़्ल नहीं था कि यह भी न समझता कि अन्ध पिता उस के मौन समर्थक हैं। अन्य लोगों की तरह धृतराष्ट्र सोचते, बालकों की लड़ाई मर्यादित ही तो होती है। वे यह सोच कर सन्तुष्ट भी थे कि मैं ने अनेक वर्षों तक राज्य किया है, इसलिए जब पाण्डवों को राज्य मिलेगा तब मुझे भी भीष्मादि की कृपा से आधा राज्य तो मिल कर ही रहेगा। एक दिन दुर्योधन ने भीम को विष खिला कर नदी में फेंक दिया; बुज़ुर्गों ने पहली बार तीखे और अमिट वैर को जाना, बूझा। पाण्डव तो कुन्ती के साथ चले गये; फिर भी दुर्योधन ने उन्हें लाक्षागृह में भस्म करने का षड्यन्त्र रचा। ज़रा ग़लती हो गयी और सफलता न मिली! लाक्षागृह कौरव-पाण्डवों के वैर का प्रतीक ही है। इस के बाद पाण्डवों का विवाह, इन्द्रप्रस्थ में आगमन,

उन के शासन का आरम्भ, राजसूय-यज्ञ, मय-सभा—सारी घटनाएँ उन के अजेय पराक्रम और अद्भुत एकता का पर्याप्त प्रमाण देती हैं ।

लाक्षागृह वाले षड्यन्त्र के असफल होते ही दुर्योधन के छक्के छूट गये । पिता की भाँति आधा राज्य लेने को जी न करता था । मय-सभा के अपमान ने तो उसे और भी जलाया । द्रौपदी ने खिल्ली उड़ायी । भीम ठठा कर हँसा । हँसते हुए उस ने दुर्योधन को दीवार और दरवाज़े दिखाये थे, "धृतराष्ट्र-पुत्र, यहाँ देखो, यह रहा दरवाज़ा !" पर्यायवाची शब्दों में उस के पिता के अन्धेपन का उपहास किया था । कुन्ती अथवा ज्येष्ठ पाण्डव ने, यहाँ तक कि श्रीकृष्ण ने भी, दुर्योधन के अपमान को अनदेखा कर दिया । वे 'लाक्षागृह' को भूल नहीं पाये थे । इस घटना से दुर्योधन का वैर, जिसे वह बचपन से पाल रहा था, उफन कर फैला । आग, ज़हर जैसी मामूली बातें छोड़ कर उस ने धूर्त उपाय खोज निकाला और शकुनि द्वारा सुझाया गया मय-द्रौपदी के पाण्डवों की सम्पत्ति लूटने का द्यूत वाला मार्ग अपनाया । शकुनि का कपट-मार्ग उस का जाना-पहचाना था ।

द्रौपदी के लज्जा-हरण के प्रसंग में यद्यपि दुर्योधन ने उसे अपनी जंघा दिखायी थी, फिर भी कीचक के समान उस के हृदय में कामुक वासनाएँ नहीं थीं । द्रौपदी से वह द्वेष रखता था । इसी लिए उस ने द्रौपदी को 'दासी' कहा, दासोचित व्यवहार करने में द्वेष की पराकाष्ठा मानी । मय-सभा का बदला ले लिया । दुर्योधन की उद्दाम वैरपूर्ण वृत्ति और अशिष्टता का सब से अधिक निषेध विकर्ण ने किया । उस ने अपने भाई को कड़े शब्दों में डाँटा; वैसे ही जैसे भीम ने युधिष्ठिर को डाँटा था । विकर्ण ने ही धृतराष्ट्र को द्रौपदी के प्रश्नों के उत्तर देने को वाध्य किया और उसे तीन वर देने की प्रेरणा दी ।

उधर पाण्डवों ने वनवास किया और इधर दुर्योधन का माता-पिता से मनमुटाव हुआ । धृतराष्ट्र पाण्डवों के वनवास की सुन कर मन ही मन प्रसन्न थे । फिर भी सतही तौर पर न्यायप्रियता का स्वाँग रचना ज़रूरी था । उन्होंने विदुर की राय जाननी चाही और विदुर ने दो टूक उत्तर दिया : "आप को चाहिए कि दुर्योधन जैसे पुत्र को त्याग दें ।" धृतराष्ट्र का सत्य स्वरूप इसी क्षण पहचान में आता है । उन्होंने विदुर से कहा, 'तुम्हें पाण्डव प्यारे हैं, हम नहीं !" और उन्हें निकाल दिया । फिर भी वे विदुर से स्नेह करते थे । यह जान कर कि विदुर चले गये हैं, उन्होंने पश्चात्ताप किया; विदुर को बुलवाया; क्षमा माँगी ।

दुर्योधन ने यह सुना और आग-बबूला हो गया । उस को डर लगा, कहीं बूढ़ा पाण्डवों को वन से बुलायेगा तो नहीं ! उस ने खुलेआम विरोध किया और हताश धृतराष्ट्र को कहना पड़ा, "मैं अन्धा; मेरी क्यों सुनने चला है ?" यह सब हुआ; गान्धारी, व्यास आदि ने भी समझाया परन्तु धृतराष्ट्र दुर्योधन को त्याग देने पर राज़ी न हुए । उलटे, पुत्र-मोह की दुर्बलता को सब के सामने स्वीकार कर कहने लगे, "पुत्र-

प्रेम के सामने मैं हतबल हूँ ।" व्यास इतने बुद्धिमान् पर वे भी अधिक न कह सके। लेकिन धृतराष्ट्र को कोंचा गान्धारी ने । पाण्डवों के वन-गमन के समय सब की आँखों से आँसू बह चले; मगर रीती आँखों तमाशा देखा किये दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण और शकुनि । यह क्षण द्रौपदी की स्मृति में जैसे टँक गया है; कैसे कहें कि गान्धारी ने ध्यान नहीं दिया ? पुत्र का विनाश उस की आँखों के आगे नाच उठा । पुत्र की दुष्टता, मत्सरग्रस्तता, सभा में उस के घिनौने कार्य ने गान्धारी को कुपित कर दिया । उस की न्याय-बुद्धि जागृत हुई । उस ने आग्रह किया कि विदुर के कथनानुसार पाण्डवों को वन से लौटाया जाये और उन्हें आधा राज्य सौंप दिया जाये । दुर्योधन तो अनुद्यूत का हठ पकड़े हुआ था; गान्धारी के आग्रह को देख कर धृतराष्ट्र ने फिर एक न सुनी । दुर्योधन अच्छी तरह जानता था कि पिता को तो झुकाया जा सकता है, परन्तु माता को इस से अधिक नहीं झुकाया जा सकता । परिणाम यह कि उस ने माता के पास जाना ही छोड़ दिया । पाण्डवों से समझौता करने का विचार व्यक्त करने वालों का कह कर या मौन रह कर उद्दाम उपमर्दन करने की कला में दुर्योधन अत्यन्त प्रवीण था । पिता को और व्यास को तो उस ने चुटकी में उड़ा दिया । विदुर और भीष्म से उस ने साफ़-साफ़ कह दिया, "आप हमारी रोटी खाते हैं और पाण्डवों को कन्धे पर बिठा कर नाचते हैं !" जब राजसभा में मैत्रेय ने यही उपदेश किया तो दुर्योधन कुछ बोला नहीं; आँख उठा कर देखा तक नहीं, सिर्फ़ ताल ठोंक कर धिक्कार व्यक्त किया ।

अभिमानी दुर्योधन ने कर्ण की व्यथा को जिस प्रकार जान लिया था, अन्य कोई न जान पाया । द्रौपदी-स्वयंवर में कर्ण के तेजोभंग के समय कुन्ती ने भी दुख व्यक्त नहीं किया । उस के शल्य को समझा सिर्फ़ दुर्योधन ने । कर्ण के क्षत्रियत्व के अभाव से उत्पन्न व्यथा को सदा के लिए समाप्त करने के उद्देश्य से दुर्योधन ने उसे अंगदेश का राजा बना दिया और कर्ण से आमरण मैत्री की याचना की । कर्ण जीवनान्त तक मित्र-ऋण को नहीं भूला ।

राजा के रूप में दुर्योधन का शासन-काल प्रजा के लिए अत्यन्त सुखकर सिद्ध हुआ—स्वयं युधिष्ठिर ने इसे स्वीकार किया है । पाण्डवों को 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि' कह कर उस ने जो हठधर्मिता दिखायी, उसे आजीवन हृदय से चिपटाये रहा । पराजय की वेदना सहते हुए उस ने प्राण त्याग दिये; परन्तु अन्तिम क्षण में यह जानकारी भी उस के सन्तोष का कारण बनी कि अन्त में सिर्फ़ पाँच पाण्डव ही जीवित रहे हैं । अश्वत्थामा की निष्ठा और कृतित्व के उपलक्ष्य में दुर्योधन ने उस का आभार माना, धन्यवाद दिया । अपनी दुःस्थिति के विषय में दुख व्यक्त नहीं किया । आरम्भ में अपने प्रति दयाभाव रखने वाले दुर्योधन ने साहस और धैर्यपूर्वक मृत्यु की अधीनता स्वीकार की । मरण के द्वार पर पहुँच कर भी उस ने अनुभव किया कि वैर जीवित है, और इस विचार ने उसे सन्तोष दिया । माता-पिता को उस ने स्मरण नहीं किया; किसी की याद

में आँसू नहीं बहाये। इर्द-गिर्द मँडराते गिद्धों को देख कर वह भयभीत न हुआ। दुर्योधन के जीवन में लालच के कई दाग़ दिखाई पड़ते हैं; किन्तु मैत्री के सम्बन्धों को उस ने दाग़ न लगने दिया। यदि वह ऐसा न कर पाता तो माद्री का भाई शल्य उस के पक्ष में न रहता।

दुर्योधन मज़बूत ऐंठन की रस्सी था। ऐंठन के कारण ही उस का व्यक्तित्व छिछला नहीं लगता, नारियल की तरह लम्बा-ऊँचा जान पड़ता है। फिर भी उस के अन्तिम भीरुतापूर्ण कार्य ने उस के ऐंठन भरे व्यक्तित्व को भी कमज़ोर कर दिया। पाण्डवों को विनष्ट करने के लिए उस ने अनेक ओछी युक्तियों का प्रयोग किया था। पेट में भय था; भय क्षम्य था। भय की तह में राजवैभव का स्वप्न करवटें ले रहा था। इसी लिए यह देख कर मन पर विषाद छा जाता है कि भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि के धराशायी हो जाने पर, पराजय की अटलता स्पष्ट हो जाने पर दुर्योधन जल-स्तम्भन-विद्या के बल पर पानी में जा छिपा और मृत्यु से बचने के लिए अपनी कायरता दिखाने को तैयार हो गया। ऐसे तो कई बार वह आत्महत्या की बातें कह चुका था। लेकिन मरण को सामने देख कर उस का धीरज जाता रहा और वह भागा, छिप गया। अब वह वीर योद्धा नहीं रह गया था, वह राजा नहीं था जो अपने सैनिकों के साथ सुखपूर्वक चिरनिद्राधीन होना कर्तव्य मानता है। वह अन्धे का बेटा था; घबराया-सकपकाया सा; छिछली आशाओं को सहेजने वाला।

दुर्योधन के जीवन में दोस्ती का जो एक स्थायी रसायन था, उस के आधार पर युद्ध के आपत्काल के क्षणों में व्यास ने एक अर्थघन नाट्य-प्रसंग रचा है। दुर्योधन के हृदय की समस्त सुकुमारता दिखा दी है। बालिश हृदय के इस व्यक्ति की भावनाओं के धागों को कुशलतापूर्वक बचपन की स्मृतियों के साथ जोड़ दिया है। प्रसंग इस प्रकार है। अश्वत्थामा और घटोत्कच में युद्ध होता है और अश्वत्थामा हिम्मत हार जाता है। उस के बाद कर्ण और घटोत्कच का सामना होता है और कर्ण घटोत्कच पर वासवी-शक्ति का प्रयोग करता है। घटोत्कच की मृत्यु हो जाती है; कर्ण के विनाश की दुन्दुभि बजाती हुई!

घटोत्कच के सामने जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित है और श्रीकृष्ण और अर्जुन एक-दूसरे की तरफ़ देख कर हँस रहे थे। बचपन की बातें याद कर रहे थे। यह देख कर दुर्योधन विचलित हो उठा। सात्यकि से युद्ध करना छोड़ कर वह बोला, "क्रोध, लोभ, असूया और क्षत्राचार—सब को धिक्कार है! सेनाओं को धिक्कार है। मुझे बचपन याद आता है। तुम मेरे प्राणप्यारे मित्र हो, मैं भी तुम्हारे लिए वही हूँ। और आज तुम मेरे साथ लड़ने आये हो। मुझे बचपन का प्रेम याद आ रहा है। युद्ध में सब कुछ जल कर राख हो गया। क्रोध और लोभ के अतिरिक्त युद्ध में रखा ही क्या है?"

कृष्णार्जुन की जोड़ी को देख कर दुर्योधन शैशव के काव्यमय विश्व में सैर करने

लगा था; कठोरहृदय प्रौढ़ सात्यकि जहाँ के तहाँ था। रूखे स्वर में बोला, "यह आचार्य का घर नहीं है। यहाँ हम खेलने को नहीं आये हैं।"

फिर भी दुर्योधन के सिर का जादू नहीं उतरा। वह उसी भाव से बोला, "बचपन की क्रीड़ाएँ कहाँ हैं? काल की लीला अगाध है, अगम्य है। कहाँ वे क्रीड़ाएँ और कहाँ यह युद्ध! हम सब लोभी हैं; लोभ हमें लड़ा रहा है!"

कृष्ण से भी न रहा गया। कह उठे, "यही है क्षात्रवृत्ति जो गुरु तक से लड़वाती है। तुम मुझे मारो।" कहीं दुर्योधन सचमुच ही निःशस्त्र कृष्ण को मार न दे, इस भय से सात्यकि ने सम्भाषण तोड़ दिया। श्रीकृष्ण ने दुर्योधन के हृदय की कोमलता को जान लिया था और उन के उत्तर में कटुता नहीं थी, मात्र अपरिहार्य युद्ध-नीति का समर्थन था। पारस्परिक प्रेम से बड़े होते हैं युद्ध के मूल्य; परन्तु सात्यकि को भरोसा न था कि जो मूल्यों का आचार-धर्म युद्ध-प्रवृत्ति का पोषण करता है, उस का उच्चारण कहाँ ले जायेगा। इसी लिए उस ने जल्दी-जल्दी कहा, "मैं अपने मित्रों को संकट में नहीं डालना चाहता।" और वह उत्साहपूर्वक युद्ध करने लगा। दुर्योधन भी जैसे इहलोक में लौट आया और घमासान युद्ध करने लगा।

दुर्योधन कर्ण की भाँति तन कर खड़ा न रह सका – वैर को प्रज्वलित कर चुकने पर भी नहीं। आखिरकार वह जल से बाहर आया, अनिच्छा से आया; वह आ गया तो टूटी कड़ी फिर एक बार जुड़ गयी। ऐसी जुड़ी कि पता ही न चले; जिसे ध्यान से देखने वालों को छोड़ कर दूसरों की निगाह पकड़ ही न पाये। उस के उपरान्त आया अन्त। और दुर्योधन ने उद्दाम अहंकार से मरण-गति को स्वीकार किया। यह राजा धरती पर लेट रहा; चारों ओर फैले मृत परिवारों को साथी बना कर। अब चला, तब चला की हालत; कि दौड़ कर आया अश्वत्थामा और पाण्डव-परिवार के सम्पूर्ण विनाश की खुशखबरी सुनाने लगा। दुर्योधन के प्राण आँखों और अधरों में आ बसे। नेत्रों में किंचित् हर्ष आया। मन आर्द्र हो आया। होंठों पर हँसी उभरी। अपने परम मित्र के प्रति कृतज्ञता के शब्दों का उच्चारण कर, वैर और स्नेह के परमोच्च बिन्दु पर पहुँच कर उस ने कूच कर दिया।

शैशव से ही व्यक्तित्व की रेखाओं को खो दिया था इस मनुष्य ने! लेकिन मुझे दिखाई पड़ती है इस अन्तिम दृश्य में, नील-धूमिल रणभूमि में, वैर और मैत्री की काली-उजली बुँदकियों से काढ़ी गयी विरूप, आकाश-पाताल-स्पर्शी एक विकराल आकृति। साधारण योद्धा की। आकृति इतनी विशाल कि उस में युद्ध में भाग लेने वाले तमाम योद्धा समाये हुए हैं। आश्चर्य यह कि यद्यपि इस योद्धा का हृदय अत्यन्त संकीर्ण है, फिर भी विकराल आकार के कारण महाभारत का प्रत्येक व्यक्ति सुसंवादी अथवा विसंवादी बन कर उस से जुड़ा हुआ है। यदि सिर्फ़ वही युद्ध का प्रतीक बना तो अपनी आन्तरिक संकुचितता के कारण। क्रूरता, संकीर्णता और विनाश—युद्ध की

यही विशेषताएँ हैं। वही उस की भी थीं। कृष्ण ने अर्जुन को गीता सुनायी और अर्जुन ने विजय पायी, इसी को लक्ष्य कर लोग उसे भारतीय युद्ध का नायक मानते हैं। मैं इस से सहमत नहीं हो पाती। भारतीय युद्ध का नायक है, प्रणेता है दुर्योधन। खल-नायक हो चाहे; पर वही नायक है। ऐसे तो युद्ध का नायक होता ही कहाँ है? युद्ध होते हैं, खल-नायक के कारण ही न?

एकाकी

दुर्योधन दुष्ट था; भारतीय युद्ध का अग्रगामी प्रणेता था। द्रौपदी के लज्जा-भंग की कल्पना का प्रमुख प्रवर्तक था। भरे दरवार में रजस्वला स्त्री को घसीट कर ले आने की अभिनव दुष्ट कल्पना किसी अन्य मनुष्य के मस्तिष्क में न आती, वह दुर्योधन के ही मन में आयी। पाण्डवों के विरुद्ध उस ने सैकड़ों छिछले षड्यन्त्र रचे और अपनी आँखों उन्हें राख में वदलते देखा। युद्ध ही पहला और एकमात्र और अन्तिम धर्मबद्ध कार्य था, जिसे दुर्योधन ने अंगीकृत किया। आश्चर्य की वात तो यह है कि युद्ध को स्वीकार कर लेने पर उस ने छल-कपट की अपेक्षा वीरता का प्रश्रय लिया। अश्वत्थामा की अन्तिम अधमता छोड़ दें तो दुर्योधन की ओर से कपटपूर्ण कार्य किया गया नहीं दिखाई पड़ता। धूर्तता के काम सब पाण्डवों की तरफ़ से किये गये। ठीक इसी कारण कौरवों के प्रति घृणा अधिक समय तक नहीं रहती। जो रहती है, वह अनुकम्पा है। अनुकम्पा भी मात्र दया नहीं रहती जो अपंग-अपाहिजों के प्रति दिखाई जाती है। वह भी एक वेजोड़ श्रेय का सहयोग पाती है। तब इस ओर भी न्याय का पलड़ा पाण्डवों का इतना भारी हो जाता है। केवल पाण्डवों का विचार करते हैं, तो उन्हें तत्काल न्याय पाते हुए देखते हैं। कौरवों के साथ न्याय नहीं करते बनता; न्याय कौरवों की ओर झुकता है तो कर्ण का धीर-गम्भीर रूप ले कर ही। यदि कर्ण न होता तो कौरवों के साथ न्याय करना व्यास के लिए सम्भव न होता। कर्ण न होता तो नैतिकता की चुनौती उग्र रूप धारण न कर पाती। कर्ण न होता तो पाण्डवों में दृढ़ता न आती; क्योंकि तब दुर्योधन उन्हें युद्ध का निमन्त्रण देने का साहस ही न कर पाता।

कर्ण भारतीय युद्ध में आश्वासन का प्रतीक था। कर्ण के अस्तित्व के कारण ही श्रीकृष्ण को अर्जुन के सामने गीता के दर्शन का उद्घाटन करना पड़ा। जीवन और मृत्यु का वेदान्त तरह-तरह से सजा-सजा कर दिखाना पड़ा। गीता जीवन और मरण के अभिन्न ताल का शब्दों में अंकित प्रतीक है; परन्तु ताल का प्रत्यक्ष स्फुरण कर्ण के चरित्र और कृतित्व में होता है। कृष्ण और कर्ण वस्तुतः एक समान दार्शनिक भूमिकाओं की, पौरुष और चैतन्य की, निर्भयता और निर्ममता की दो मूर्तियाँ हैं। एक मूर्ति को व्यास ने दैवी स्तर पर रखना पसन्द किया है; दूसरी मूर्ति को उन्होंने

द॰सै॰१६३५.

सम्पूर्णतः पार्थिव स्तर पर रखा है। दोनों को विरोधी दलों में रख कर व्यास ने एक कलात्मक उपलब्धि दिग्दर्शित की है। ऐसे तो भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा युद्ध में पाण्डवों के विरोधी थे ही; परन्तु उन का विरोध युद्ध की मर्यादा मानता था। वह एक तरह से कृत्रिम था। वे भीतर से पाण्डवों के प्रेमी थे। वे खाये हुए नमक का मूल्य, दिये गये वचन की पूर्ति और धर्मयुद्ध के वीरोचित कर्तव्य का पालन करना चाहते थे। भावनाशून्य हृदय से उन्होंने शत्रुता का पूरा-पूरा नाटक किया। कर्ण के विषय में यह सत्य नही है। उस का वैर ज्वलन्त था। वैर अनेक दबी-कुचली भावनाओं के उद्रेक के साथ पल रहा था। केवल वैर का बदला लेने के लिए उस ने दुष्टता का सहारा नहीं लिया था। उस ने वैरियों को हाथ खोल कर दिया था। अपने ही विनाश के दानरूपी प्रतीक को क्या वह नहीं जानता था? खूब जानता था; फिर भी अर्जुन की प्राण-रक्षा करने के निमित्त द्वार पर खड़े इन्द्र को कर्ण ने कवच-कुण्डल बिना आनाकानी के दे ही तो दिये। सूर्य ने मना किया, पर कर्ण ने दे दिये। कर्ण दे रहा था; क्या सोच रहा होगा? सारी वासनाएँ, कर्तव्य की समस्त कटु भावनाएँ, सारी ऐंठन और समर्पण-भाव की परिपूर्ति—उस के विचारों में यह सब था।

कर्ण के कानों में जब तक कुण्डल थे, वह अबध्य था। तेज से दीप्त था। कुण्डल निकालने थे, कर्णच्छेद होने को था। तेज तो मिटने ही वाला था; मृत्यु भी अटल थी और वह यह सत्य समझ चुका था कि मेरी मृत्यु में पाण्डवों की विजय निहित है। कुण्डल फिर भी उस ने दे दिये। उसे उस क्षण मरण डरा नहीं पाया; पाण्डवों के विजय की कल्पना व्यथित नहीं कर पायी। विचलित किया उसे मात्र एक विचार ने। कान कट जायेंगे तो चेहरा कुरूप हो जायेगा। इसी लिए उस ने इन्द्र से वर माँगा कि वे उस के शारीरिक दोष को ढक दें। इन्द्र ने वर दिया। इन्द्र ठहरा सौन्दर्य का परम भोक्ता। उन्होंने अनगिन अपंग-अपाहिजों को सुन्दर और सतेज कर दिया था। इन्द्र कैसे सह पाते कि जन्म से सुन्दर, सुदृढ़ कर्ण की यह छोटी सी कुरूपता मुझे दी गयी भिक्षा का परिणाम दिखाई दे। वे वर न देते तो अशोभन होता, उन का ओछापन दिखाता। क्या पता, भावी की यही योजना हो कि अपने जीवन का दान करने वाले वीरवली की देह अभंग बनी रहे, सुन्दर दिखाई पड़े ताकि एक यज्ञकर्म की पूर्ति हो!

कर्ण की दृष्टि से विचार करने पर यह भी प्रतीत होता है कि जिस क्षण कर्ण अर्जुन को इस प्रकार गुप्तदान देने के त्याग-भाव से स्फुरित हो रहा था, एक अजीब जादू उस पर छाया हुआ था; एक ओर व्यथित भी था—स्वामी की, दुर्योधन की इच्छापूर्ति करने में असमर्थ सिद्ध हूँगा, यह सोच कर पराजित हो गया था—उसी क्षण प्रत्यक्ष दान की प्रक्रिया के समय, अनजाने, एक प्रतिक्रिया मन में उभर रही थी। कर्ण के हृदय के निभृत एकान्त में एक भाव सतत महकता था: मैं सुन्दर हूँ। वह जानता था कि जन्मलांछन के कारण मुझे अपने सौन्दर्य और बल के उपयुक्त उपभोग नहीं मिल सके, फिर भी देखने वाले को मेरा सौन्दर्य अन्य किसी पुरुष की अपेक्षा

अधिक मोहित करता है। 'जन्म दैवाधीन, लेकिन पौरुष और पराक्रम तो अपनी कमाई है,' कर्ण जानता था परन्तु वह भूल कर भी अपने परम सुन्दर और अतिभव्य व्यक्तित्व का उल्लेख नहीं करता। उद्घोष करता है वह सिर्फ़ अपने प्रयासों का; पुरुषार्थ से भरी वृत्ति का। अपने निसर्ग-दत्त सौन्दर्य का गर्व और निसर्ग-दत्त प्रशंसा जो दर्शकों की आँख में उभर आती थी, कर्ण के लिए एक साधारण वस्तु बन चुकी थी और उस के हृदय की गहराई में इस तरह पैठ चुकी थी कि उस की दृष्टि में उल्लेखनीय तक नहीं रह गयी थी।

इसी लिए जब अपने हाथों से कर्ण ने अपना कर्णच्छेद किया तो उस ने अनुभव किया कि आज वह निसर्ग-दत्त देन भी गयी। कुण्डलों की हानि के सम्बन्ध में उस ने आँसू नहीं बहाये; विच्छेद अनुभव किया जन्मजात सौन्दर्य का जो उस से छिन रहा था। अनजाने उस ने माँगना माँगा। याचक के रूप में नहीं, दीन हो कर नहीं, बल्कि ऐसे मनुष्य के रूप में जो अपनी, बिलकुल अपनी, वस्तु के खो जाने पर उसे स्वाभाविक स्वर में माँगता है, कहीं भी, किसी से भी माँगता है। कर्ण की माँग हेतुपूर्ण नहीं थी। इन्द्र और कर्ण दोनों ने इसी प्रतिक्रिया को, इस खेद को अनुभव किया। कर्ण को अपने सम्बन्ध में पहली बार खेद हुआ; जीवन दयनीय प्रतीत हुआ। लेकिन क्रोध नहीं आया। क्षात्रतेज को अब छिपा कर रखने की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। क्षात्रतेज के उदार आविष्करण के क्षण में उसे अपनी कुरूपता की सुध न रही। किसी को नहीं रह सकती। क्या उस ने यह सोचा कि इस असामान्य पल में, समर्पण के पल में, अपने, केवल अपने सौन्दर्य-परिपूर्ण शरीर को ले कर मृत्यु की वेदी पर बलि देनी है ? मुझे लगता है, यह नहीं सोचा। सुरूपता की समाप्ति प्रत्यक्ष मृत्यु से भी भयानक होती है। उसी भयानकता का अनुभव, क्षणमात्र प्रत्यक्ष अनुभव कर्ण ने किया। इस अनुभव ने कर्ण को रसप्रवाही जीवन से मज़बूती से बाँध दिया।

समर्पण के उसी क्षण ने कर्ण का मरण निश्चित कर दिया। परन्तु यह प्रतिक्रिया जैसे स्वयं कर्ण को धकेल कर उस के अन्तर में बिजली की तरह कौंध गयी। हृदय अधिक सचेतन हो उठा हिचकोला खा कर अपने क्षणिक देह-सौष्ठव का ममत्व। कर्ण की समस्त इच्छाएँ प्राकृतिक हो गयीं। वह डूब गया नार्सिसस की भाँति क्षणमात्र अपने सौन्दर्य-चिन्तन में। नार्सिसस की भाँति वह उलझ कर नहीं रह गया, क्योंकि कर्ण आत्मकेन्द्रित भले ही रहा हो, वह अतिशय कर्तव्यवद्ध था। बाल्यकाल से लगातार अपमानित होता रहा था, अतः पौरुष की पूजा करता था। जीवन के उपभोग और जीवन के समर्पण के दो विरोधी छोरों को उस ने क्षण-क्षण जिये हुए जीवन में उँड़ेल दिया था। उपभोग उस ने लोलुपता से नहीं किया। वह द्रौपदी का पति होने की योग्यता रखता था। श्रीकृष्ण ने उसे जीवन-वृत्त सुनाया और कहा, "तुम पाण्डवों के दल में चले आओ; द्रौपदी तुम्हें पति के रूप में स्वीकृत करेगी।" उन का आश्वासन तक कर्ण को डिगा न पाया।

क्या वह द्रौपदी की कामना नहीं करता था ? दुर्लभ स्त्री को आकृष्ट करने का सामर्थ्य रखने वाला कर्ण इतना स्वाभिमानी था कि उस ने स्वाभिमान के साथ ही साथ उत्पन्न विनम्रता को भी अंगीकृत किया था। रावण की भाँति उस ने अपने हृदय को द्रौपदी के इर्द-गिर्द घूमने की अनुमति नहीं दी। यही नहीं, उस ने द्रौपदी को तुच्छ माना और राधा की पसन्द की स्त्रियों के साथ सूतकन्याओं के साथ गिरस्थी रची, सुख-सन्तोष माना। अपने पुत्रों पर प्यार लुटाया। क्षत्रिय-कन्याओं के प्रति अभिलाषा पर उस ने सहज विजय प्राप्त की, राजपद पाने के बाद भी प्राप्त की। कर्ण ने उपभोग का ऐश्वर्य तो जाना लेकिन उस की गुलामी स्वीकार नहीं की। स्वीकार वही किया जो सम्मानसहित मिला, जो प्रेमपूर्वक दिया गया। दुर्योधन का दिया राजपद कर्ण ने स्वीकार किया; उस की करुणा-वृत्ति की उपेक्षा नहीं की। कर्ण के अभाव में दुर्योधन में मैत्री की भावना कभी जड़ ही न पकड़ती। कुछ प्रसंगों में तो उस ने अच्छा-बुरा, न्याय-अन्याय सब की उपेक्षा कर कृतज्ञता के अंकुर की रक्षा की, उस का पोषण किया। कर्ण भीतर ही भीतर दग्ध हो रहा था। जन्म की कालिमा से अगति अनुभव कर जल रहा था। उस लपट ने उस की रसिकता को, कामुकता को ग्रस लिया। एक सुकुमार, अन्तर्गर्भ में छिपा अंकुर टिका था कहीं; साँस ले रहा था क्योंकि वह नष्ट नहीं हो सकता था। वह अंकुर था अपने सौन्दर्य की सुखद प्रतीति का। कुण्डल छिन जाने के बाद भी, इन्द्र के वरदान के फलस्वरूप ही सही, कर्ण का सौन्दर्य पहले की तरह सुन्दर और मनमोहक बना रहा। कर्ण की अपने रूप के प्रति कातरता में एक अन्य, अत्यन्त अमूल्य, नैतिक सौन्दर्य से भरी कातरता, एक परम कल्याणमय छुई-मुई सी भावना का व्यास ने किंचित् आभास दिया है और उसे छिपा दिया है। कहीं मेरे ही मित्र मेरे दोष को देख कर व्यथा से न भर जायें; कहीं ऐसा न हो कि मेरे शत्रु, मेरे भाई मेरे दोष को देख कर घृणा करें, करुणा दिखायें और उत्साहपूर्वक लड़ें ही नहीं; और विफल हो जाये वह दान जो गुप्त रूप में दिया गया है—कर्ण ने शायद इसी भय के कारण इन्द्र से पूर्ण सौन्दर्य का वरदान माँगा। अधीर हो कर लिया। बालिश भाव से लिया। कर्ण-हृदय के सारे गुँथे हुए धागे इस क्रिया में जैसे ढीले पड़ गये हैं। जिन का मरण सुन्दर होता है, उन्हीं के हृदय का ताना-बाना अन्तिम क्षण में ऐसे चैतन्यपूर्ण और बिलकुल ढीले पड़ जाते हैं—वह भाव ही कुछ ऐसा है। वहीं से उन का जीवन आगे और पीछे खिलता-फैलता, अंकुरित होता चला जाता है। कर्ण के जीवन के हरे-भरे अँखुए सौन्दर्य-पिपासा के इन्हीं क्षणों में लहलहाये हैं।

इसी प्रतीति ने कर्ण को अपने व्यक्तित्व को समग्रता में देखने का अवसर दिया, सर्वस्व को होम दे कर मुक्त होने की शक्ति दी। कर्ण का व्यक्तित्व उस के सम्पूर्ण देहाकार को व्याप लेता है। इसी कारण कर्ण की आकृति महाभारत की एक अत्यन्त सुस्पष्ट, अत्यन्त ललित आकृति बन पायी है। महाभारत के चित्र को मन ही

मन अंकित करें तो हमारे हाथ सिर्फ़ द्रौपदी, कर्ण, भीम और किंचित् अर्जुन बस, इतने ही पात्र आते हैं। ऐसी परिपूर्ण आकृति जिस की अंगुल भर देहरेखा विलुप्त नहीं हो पायी है, सिर्फ़ कर्ण की ही है। उस के अंग-प्रत्यंगों में पौरुष प्रवाहित हो रहा है। बाढ़ का जल नदी के किनारों के अवरोध को अनदेखा कर बहता है; मुझे कर्ण का मुख अनेक प्रसंगों में एक-एक रेखासहित, प्रत्येक भावान्दोलन से आमूल स्पन्दित, सुस्पष्ट दिखाई देता है। द्रौपदी का स्मरण होते ही सब से पहले जो चित्र उभरता है, वह न्याय की माँग करती क्रुद्ध भामिनी का है। भीम दिखाई पड़ता है मात्र स्फुरण से लड़ने वाले योद्धा के रूप में; और अर्जुन तो मुझे सदा अधोवदन दिखाई पड़ता है। अगर अधोवदन नहीं है तो लगता है, जैसे पीठ कर के खड़ा है और किसी न किसी काम में मग्न है। कर्ण के विषय में ऐसा नहीं कह सकती। कर्ण के सम्बन्ध में क्रिया गौण वस्तु सिद्ध होती है। चाहे द्रौपदी-चीरहरण के अवसर पर दुर्योधन को बेशर्मी से उकसाने की क्रिया हो, चाहे कुण्डल-दान हो, चाहे घनघोर युद्ध-प्रसंग हो, असली कर्ण क्रिया से, मन ही मन, दूर ही रहता है। उस को अप्रतिहत भस्म करती व्यथा उस के और अन्य मनुष्यों के बीच सतत भेद बनाये रखती है। इसी कारण हर प्रसंग में कर्ण के हाव-भाव अन्य जनों से एकदम अलग और उभर कर दिखाई देते हैं। वह विलोभनीय बना रहता है, उस का व्यवहार चाहे दुष्टता से भरा हो, चाहे उदारता से युक्त हो। उस का शव भी सुन्दर ही बना रहा।

कर्ण सतत एकाकी था, अपने न्यायोचित स्थान से बहिष्कृत। भारतीय समाज में जाति की चारदीवारी इतनी मज़बूत और इतनी ऊँची रही है कि उसे तोड़ना या लाँघना असम्भव है। जाति से बाहर रह कर कोई व्यक्ति कितना ही महान् क्यों न हो जाये, उसे निर्माल्यवत् माना गया है। यह ऐसी निर्घृण पारम्परिक नीति थी, जिस पर कोई आपत्ति न उठा सकता था। जाति-धर्म ने व्यक्ति की महानता की कभी क़द्र न की। कर्ण तथा एकलव्य की महानता को समझ कर भी व्यास उन्हें जाति की मर्यादा को लाँघ कर महानता अथवा कुशलता का उपभोग करने की अनुमति न दे पाये। इस से यही प्रकट होता है कि सामाजिक-विधान कितना अनुल्लंघनीय होता है। व्यक्ति महान् हो सकता है, परम दार्शनिक माना जा सकता है, ब्राह्मण की अपेक्षा धर्मव्याध अधिक व्युत्पन्न-मति कहला सकता है; परन्तु कर्म उसे पूर्व परम्परानुसार ही करने होंगे। इसी उच्च-नीचता ने विदुर की न्यायबुद्धि को कुचल दिया। यद्यपि किसी एक व्यक्ति के कार्यों के सन्दर्भ में उन्होंने वही कहा जो उन्हें उचित जान पड़ा, परन्तु जब एकलव्य अथवा कर्ण के रूप में अधर्म-सन्तानों अथवा हीनजातियों की समस्या उपस्थित हुई, तो उन्हें भी समस्या से बच कर रहना पड़ा। उस युग में यह धारणा बन ही नहीं पायी थी कि जातीयता की विषम नीति बौद्धिक अथवा आत्मिक समानता की राह का एक ज़बरदस्त रोड़ा है। फिर भी एकलव्य और कर्ण के रूप में सब को एक अनाम, कटु सत्य का अनुभव करना पड़ा। पूर्वकर्मानुसार ही इस लोक में जन्म मिलता है,

इस विचार के कारण जो हीनकुल में जन्म पाता था, उसे चुप रह कर दिन बिताने पड़ते थे। कर्म का यह लम्बा-चौड़ा दर्शन कर्ण के सघन व्यक्तित्व को छू नहीं सका। पाँच पतियों का वरण करते ही द्रौपदी के पूर्वजन्म की कथा व्यास को कहनी पड़ी। और वही व्यास जन्म से माता द्वारा, तिरस्कृत कर्ण के पूर्वजन्म की कहानी सुनाने का सामर्थ्य न दिखा पाये। कर्ण ही समूचे महाभारत में एक ऐसा व्यक्ति है जिसे नियति ने चारों तरफ़ से पूरी-पूरी तरह घेर लिया है। परन्तु उस के प्रत्यक्ष कृतित्व के सामने, सम्मानयुक्त सहिष्णुता के सामने कर्म का विशाल दर्शन तक फीका जान पड़ता है। एक ओर है भगवद्गीता का सारा कर्मयोग और दूसरी ओर है कर्ण जिस ने किसी दर्शन की घोषणा नहीं की और जो केवल पौरुष का सम्बल ले हठपूर्वक खड़ा रहा। कर्ण ने जीते-जी अनन्त मरणों को पी लिया।

द्रौपदी-स्वयंवर के समय कर्ण ने वीरोचित प्रीतिलाभ की हानि सह ली और वह डटा रहा। विजय पाना उस के लिए असम्भव नहीं था। स्वयं सूर्यदेव प्रसन्न हो कर कृपादृष्टि डाल रहे थे, परन्तु ज्यों ही द्रौपदी ने कहा, ''मैं सूतपुत्र का वरण नहीं करूँगी'', कर्ण ने चुपचाप धनुष रख दिया। उस ने सूर्य की ओर देखा। क्रोध में जल रहा था, फिर भी उस ने सूर्य की ओर देखा, और वह हँसा। कर्ण हँसा, अपने जन्मदाता को पहचान कर, पूरी तरह समझ कर हँसा। वह हँसी बहुत तीखी हँसी थी। अब से आगे सर्वस्व लुटा कर, अपमान सह कर, बौना हो कर जीना था। क्षुद्रता का वहाना जारी रखना था। द्रौपदी को राजसभा में घसीट कर लाया गया और कर्ण फिर हँसा। द्रौपदी उस हँसी को अपने हृदय-पटल से कभी न मिटा पायी। न जाने क्यों, वह न समझ पायी कि कर्ण की हँसी मर्मभेदी उत्तर है स्वयं द्रौपदी के स्वयंवर-प्रसंग के व्यवहार का, मयसभा में दुर्योधन की फ़जीहत देख कर वह जो हँसी थी, उस का! यदि समझ गयी होती तो वह कृष्ण के सामने वाद-विवाद न करती। राजसभा में कर्ण ने द्रौपदी को लक्ष्य कर जो भी कहा, वह एक वीर पुरुष की हैसियत से नहीं कहा, एक क्षत्रिय की हैसियत से नहीं कहा, राजा की हैसियत से भी नहीं कहा; एक सूतपुत्र राधेय ने एक 'दासी' को लक्ष्य कर कहा। कर्ण ने अपनी स्थिति के सम्बन्ध में खेद नहीं प्रकट किया; फिर भी उस के शब्द द्रौपदी की भर्त्सना की अपेक्षा अपनी भग्नोध्वस्त मनोदशा का विशेष द्योतन करते हैं।

कर्ण की नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ अत्यन्त उदात्त हैं, उस की भावनाएँ अतिशय गहरी हैं, परन्तु दुर्भाग्य से वह उन संस्कारों से वंचित रहा जो प्रवृत्तियों पर अधिकार जमा सकते थे। व्यास ने एकलव्य की उत्तरकथा का वर्णन नहीं किया है परन्तु कर्ण के पूर्ववृत्त की अपेक्षा उत्तरवृत्त का निवेदन अत्यन्त सूक्ष्मता से कियां है। वह ज़रा भी कृत्रिम नहीं है। कर्ण का सब से महान् गुण है उदारता, निरुपम उदारता। पाण्डवों के प्रति विद्वेष की आग में जल रहे हैं, और कुन्ती को वचन दे कर अपने मरण को बुला भी रहे हैं! कुन्ती ने कर्ण के जिस जीवन को अपने से अलग कर दिया था,

उसी जीवन को कर्ण ने मृत्यु का आकार दे कर दोवारा कुन्ती की तरफ़ खदेड़ दिया। मानो, कर्ण कह रहा हो : "यह तुम्हारी तुच्छ देह तुम्हें प्रत्यर्पित करता हूँ !" कुण्डल-दान में भी इस के अतिरिक्त क्या था ? फिर भी कई बार कर्ण की संस्कारहीनता–युद्धकौशल, विलक्षण प्रगल्भता तथा शूरोचित धैर्य के रहते–अच्छी नहीं लगती। द्रौपदी को लक्ष्य कर राजसभा में "गौ है, यह गौ है" चिल्लाना; "तेरे पाँचों पति जाते रहे, तू अब कौरवों की दासी बन कर रह !" कहना; युद्ध के अवसर पर भीम को "मूर्ख, पेटू, कायर" कहना; द्यूत-प्रसंग में शकुनि की हिमायत करना; वनवासी पाण्डवों को अकेला पा कर उन का खात्मा कर देने की सलाह देना—ये सारी घटनाएँ कर्ण के ग्राम्य संस्कारों का संकेत देती हैं। पाण्डवों ने ठीक इन्हीं घटनाओं का समय-असमय उल्लेख किया है। अर्जुन ने उस से कहा था कि तुम ने भीम के विषय में जिन शब्दों का प्रयोग किया है वह क्षत्रिय-धर्म के अनुकूल नहीं है। यही नहीं, अर्जुन ने कर्ण के लिए 'प्राकृत', 'मूढ़' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। लड़ाई के मौक़े पर सत्य दोनों ओर से प्रकट हो कर रहता है; पर, वह कर्णकटु होता है, अर्थात् अवास्तविक होता है। कृष्ण हों चाहे कर्ण, चाहे अर्जुन—वे अपवाद नहीं हैं। कर्ण की 'प्राकृत' वृत्ति का उल्लेख सहज विस्मरणीय नहीं है। प्रश्न यह है : क्या कर्ण को राजपुत्र मान कर कभी स्नेह से सिखाया-पढ़ाया गया था ? किसी ने बताया था, राजसभा के क्या नियम होते हैं, कैसे-कैसे क़ायदे होते हैं, राजनीति में कैसे दोहरी नीतियाँ मुलायमत से चलायी जाती हैं, व्यावहारिक जगत् में मृदुल भाषा में कठोर और लग जाने वाली बात महान् जनों द्वारा किस तरह बोली जाती है ? कर्ण ने जो कुछ सीखा, अपने बल पर सीखा। वह जन्म से बुद्धिमान् था, इसलिए किसी से पीछे न रहा, इस से अधिक क्या कहा जाये ? लगातार सुननी पड़ी है उसे 'सूतपुत्र' वाली गाली। उसे पार्थ कहा गया, क्षत्रिय माना गया मृत्यु के बाद। क्षत्रियत्व के संस्कारों से वंचित रह जाने का शूल अन्य सभी दुखों से कर्ण के लिए विशेष पीड़ादायक रहा है। कारण यह कि वीरता के आवेश को कुचल कर केवल सारथी के पुत्र के रूप में जीना तो सब प्रकार से असम्भव था। भारतीय युद्ध कर्ण के लिए सब से बहुमूल्य दैवी वरदान था !

क्या पता, कर्ण को 'सूतपुत्र' का विरुद कितनी दफ़ा सुनना पड़ा ? कभी उस ने मौन रह कर सुना, कभी आग-बबूला हो कर। परन्तु कर्ण पर मर्मभेदी प्रहार यदि किसी ने किया तो भीष्म ने किया। रणभूमि में कर्ण के युद्ध-कौशल के विषय में कुन्ती को जानकारी मिल चुकी थी। यह लड़का कौरवों के दल में सम्मिलित हो कर मेरे दूसरे पुत्रों से वैर रखेगा, कुन्ती यह सोच कर व्यथा से भर उठी। लेकिन युद्धकला-पारंगत भीष्म यह अनुमान नहीं कर पाये, आश्चर्य है। युद्धारम्भ में इस वृद्ध सेनानी ने समस्त योद्धाओं का वर्णन कर किसी को 'रथी', किसी को 'महारथी' कहा; जब कर्ण की बारी आयी तो सब के सामने बोले, "कर्ण अर्धरथी है।" सूतपुत्र महारथी नहीं हो सकता, चाहे अंगदेश का महाराजा क्यों न हो, सारथी का लड़का आधे रथ का

हिस्सेदार ही हो सकता है। भीष्म के मुख से गतानुगतिक जातीय परम्परा बोल रही थी। द्रौपदी द्वारा किये गये अपमान को पी लेना आसान था, परन्तु भीष्म का अर्धरथी कहना कर्ण के लिए दुस्सह हो उठा। जीवन में बिलकुल पहली बार कर्ण ने तत्काल निषेध किया, जैसे पहली बार निन्दा की गयी हो। दुर्योधन को भी यह अच्छा नहीं लगा और उस ने कर्ण को भीष्म के विरुद्ध बोलने को प्रोत्साहित किया। महाभारत में कर्ण के क्रोध का ज्वालामुखी कई बार फूटा है। बल्कि, चिढ़ कर, अपमान कर के बोलना उस का स्वभाव रहा है। हृदय में स्नेह, ममता रख कर भी कर्ण से अपना खुरदुरापन छिपाते न बना। छिपाना ज़रूरी भी नहीं जान पड़ा। शायद वह उग्रता को पौरुष का महत्त्वपूर्ण अंग मानता था। जो हो, जान हथेली पर रख कर लड़ने को तैयार कर्ण भीष्म द्वारा खुलेआम 'अर्धरथी' कहे जाने पर जैसा सन्तप्त हो उठा था, वैसा पहले कभी नहीं हुआ था।

भीष्म के लिए कर्ण ने जिन उद्दाम, दुर्विनीत और गर्वयुक्त किन्तु सम्पूर्णतया सत्य शब्दों का प्रयोग किया, उन का प्रयोग कभी किसी से नहीं किया गया होगा। उन शब्दों को कर्ण ने कहा और भीष्म ने सुना। इसी लिए उन का महत्त्व है। कृष्ण के साथ, कुन्ती के साथ सम्भाषण करते समय कर्ण ने जो संयम दिखाया, वही यहाँ भी देखा जा सकता है। उस ने भीष्म के दोष नहीं दिखाये, और न अपनी मनो-दुर्बलता ही प्रकट की। यह सब नहीं किया, इसी लिए तो उस के शब्दों में प्रखरता आ पायी है। कर्ण ने इतना ही कहा, "जब तक आप जीवित हैं, मैं युद्ध नहीं करूंगा। यदि आप के हाथों पाण्डव मारे जायेंगे तो मैं दुर्योधन की अनुमति से वनवास ग्रहण करूँगा, यदि आप पाण्डवों के हाथों मृत्यु पायेंगे तो मैं एक ही रथ की सहायता से समस्त महारथियों का संहार करूँगा।" कर्ण ने यह कहा और स्वाभिमानी कर्ण ने दस दिनों तक युद्ध में भाग नहीं लिया। आखिरकार भीष्म धराशायी हुए, कर्ण उसी क्षण से एक कर्तव्यनिष्ठ योद्धा बन कर सामने आया। विलुप्त हो गया उस के भीतर का वह उद्दाम, उत्स्फूर्त चुनौती का अन्तिम आवेश। वह मनुष्य बन गया। भीष्म का अनुयायी बना। खेद से भर उठा वह विनम्र योद्धा की भूमिका में आसन्नमरण सेनानी के लिए। कर्ण के नेत्रों से युद्ध के दौरान दो बार ही आँसू बहे हैं। एक बार भीष्म की मृत्यु के समय और दूसरी बार अपने पुत्र की मृत्यु के समय। पितामह ने उस की भावनाओं और शौर्य का आदर कर उसे युद्ध करने को उत्साहित किया।

छोटी सी घटना है; परन्तु व्यास ने इस घटना के इर्द-गिर्द पेचीदा मनोवृत्तियों का जीवन्त नाट्य बुना है। यहाँ खींच-तान कर अभिशाप का आयोजन नहीं किया गया है; दो प्रभावी हृदयों का संघर्ष दिखाया गया है। इस घटना का कलात्मक मूल्य संघर्ष की स्वाभाविक परिणति में निहित है। अपरिमित विक्षोभ का विसर्जन क्षमाशील शोक में होता है, यह एक सत्य है जो कर्ण के जीवन में सुसंगति रखता है: व्यास ने इसी सत्य को अर्धस्फुट रूप में रखा है। कर्ण ने श्रीकृष्ण के मुख से अपने

जन्म की कहानी सुनी थी, वह अनपेक्षित थी। कुन्ती और कर्ण की भेंट भी इसी प्रकार आकस्मिक थी। और ऐसे ही आकस्मिक था भीष्मकृत निरादर का अनुभव। उत्तरोत्तर युद्धोन्मुख आकस्मिकता की चरम सीमा थी कर्ण का प्रत्युत्तर और उस का आकस्मिक शस्त्र-संन्यास। यदि भावनोत्कट शोक-प्रदर्शन उसे दूसरी ओर मोड़ता है, तो आश्चर्य नहीं होता। योद्धा का आवेश सीधी चढ़ान चढ़ता है, उस का हृदय फिर भी भोला-भाला, सीधा-सादा ही होता है, श्रद्धालु होता है। जिस योद्धा के प्रति श्रद्धावनत होना है, उसी सेनापति से अभागे कर्ण को एक विचित्र स्थिति में उलझना पड़ता है और क्षोभ में आ कर 'जब तू नहीं तभी मैं' कहने को उद्यत होना पड़ता है, यह भी एक करुण परिहास ही तो है। परन्तु हम यहाँ कर्ण को दुर्विनीत और असंस्कृत कहने का साहस नहीं कर सकते। क्या वह नहीं जानता था कि दस दिन तक युद्ध में भाग न लेने से कौरवों की अपरिमित हानि होगी? पर, कर्ण था कि मौन बैठा रहा। क्या वह कुन्ती को दिये गये वचन की परीक्षा करना चाहता था? अन्य पाण्डवों का संहार नहीं करना है; यदि वध करना है तो सिर्फ़ अर्जुन का ही—यदि स्वयं भीष्म ही उस का संहार करते हैं तो दुर्योधन का कल्याण ही होगा, और मैं अपने वचनों की रक्षा कर लूँगा—क्या कर्ण यही विचार करता रहा? मेरी प्रतिज्ञा के कारण, मेरे युद्ध से निवृत्त होने के कारण भीष्म को चरम पराक्रम दिखाना पड़ेगा, कर्ण के अनखने का यह कारण नहीं था, ऐसा भी नहीं कहते बनता।

भारतीय युद्ध में दो प्रतिज्ञाएँ की गयी थीं। दोनों का सम्बन्ध भीष्म से था। दोनों प्रतिज्ञाएँ शस्त्र-त्याग विषयक थीं। एक प्रतिज्ञा कृष्ण ने की थी जो भीष्म से अर्जुन की रक्षा करने के लिए तोड़नी पड़ी। कर्ण की प्रतिज्ञा भीष्म की मृत्यु पर्यन्त टिकी रही और वह प्रतिज्ञा-पूर्ति का अनुभव कर सका। भीष्म के धराशायी हो जाने के उपरान्त हम कर्ण को योद्धा के रूप में देखते हैं; यहाँ कर्ण का व्यक्तित्व अनेक ऊँचाइयों को छूता है। नित्य के दरबारी वातावरण में, सामाजिक व्यवहार में कर्ण का आचरण ज़रा ग्राम्य प्रतीत होता है; परन्तु कुल मिला कर उस के व्यक्तित्व का केन्द्र-बिन्दु प्रखर नैतिकता को प्रकट करता है। योद्धा की भूमिका कर्ण की असली भूमिका थी। अपनी प्रिय भूमिका को सम्पूर्णतया पा कर कर्ण ने प्रत्येक प्रसंग में अपनी नैतिकता की प्राणपण से रक्षा की। ऐसे सभी प्रसंग विचारणीय हैं। युद्ध में अर्जुन ने जिसे 'अधर्म' कहा, वह मात्र कठोर वचन था; दूसरा कटु वचनों का उदाहरण है कर्ण और शल्य का संवाद। वहाँ भी कटुता का सूत्रपात शल्य ने ही किया। कर्ण का सारथ्य उसे अपमानजनक मालूम हुआ; इस का बदला उस ने प्रकट रूप में दुर्वचन कह कर लिया। इसी कारण यहाँ कर्ण को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। भीम के विषय में अर्जुन ने कर्ण को ख़ूब खरी-खोटी सुनायी, क्योंकि भीम को नष्ट करने के उपाय कर्ण ने ही दुर्योधन को बताये थे। पर, आगे चल कर कर्ण को लक्ष्य कर श्रीकृष्ण ने जो भँड़ास उतारी और रथ का पहिया धरती में धँस जाने पर, अधर्मपूर्वक उस का वध

कराया, क्या वह कुछ भी नहीं ?

अपनी प्रतिज्ञा द्वारा और तदुपरान्त शोकरूपी प्रतिक्रिया द्वारा कर्ण जैसे यही मान्यता प्रस्तुत करता है कि जिस ओर कृष्ण, अर्जुन, युधिष्ठिर और भीम हैं, विजय उसी ओर झुकेगी। शोकग्रस्त स्थिति में ही उस ने यह कहा। कहा और अर्जुन का संहार करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी। शोक करते समय ही उस ने मैत्रीभाव का उल्लेख किया। उसे चिन्ता खाये जा रही थी तो केवल यह कि यदि अपने कर्तव्य का पालन नहीं करेगा तो मित्र के ऋण से मुक्त होने के परम कर्तव्य से भी च्युत हो जायेगा।

मुझे कर्ण का व्यक्तित्व वग़ैर कटे, अनगढ़ हीरे की भाँति प्रतीत होता है। उस के अन्तर में तेज बसता है, बाहर से वह खुरदुरा है। कर्ण का तेज उस के स्वाभिमान में प्रकट होता है; वह सहिष्णुता का कलश है। भौंरा जंघा का रक्त पी रहा है, परन्तु कर्ण न हिलता है, न डोलता है; उस के मुँह से सिसकारी तक नहीं निकलती। शारीरिक सहिष्णुता के साथ ही साथ वह मानसिक सहिष्णुता भी रखता था जो उस के स्वाभिमान का ही सौम्य आविष्करण है। ऐसा नहीं कह सकते कि कर्ण अपने विषय में नहीं जानता था; न जानता होता तो द्रौपदी के स्वयंवर में सूर्य की ओर देख कर विषण्ण मुसकराहट उस के अधरों पर न आती। जब कृष्ण ने उसे बताया कि तू कुन्ती का बेटा है, तो ऐसा नहीं लगता कि उस ने क्रोध किया हो अथवा आश्चर्य प्रकट किया हो। कृष्ण को वह अत्यन्त शान्तिपूर्वक अपना निश्चय बतलाता है, जैसे अपने जन्म की कथा पहले से जानता हो। निश्चय यह कि 'सूतपुत्र' का विरुद उसे स्वीकृत है। अपने माने हुए माता-पिता के प्रति कर्ण के अपार स्नेह को देख कर कृष्ण से कुछ कहते न बना। कर्ण को राज्य, सम्मान, स्त्री और क्षत्रियत्व जिस से वह अब तक वंचित रखा गया था, खुलेआम प्राप्त हो रहा था, कर्ण ने ठुकरा दिया। जिस मिट्टी में जन्म लिया, पला, बड़ा हुआ, उस के प्रति वह ईमानदार रहा। प्रलोभन से प्राप्त यश को उस ने तुच्छ माना। कुन्ती से बातचीत करते समय उस ने कठोरता नहीं दिखायी। इतना ही बोला, "तुम ने मुझे फेंक दिया, यह अच्छा नहीं किया।" उस ने आश्वासन दिया, "अर्जुन को छोड़ कर कर्ण सहित अथवा कर्ण को छोड़ कर अर्जुन सहित तुम्हारे पाँच पुत्र जीवित रहेंगे।" कर्ण ने जिस क्षण यह कहा, उसी क्षण उस ने अर्जुन को प्राण-दान दिया—कुण्डल-दान के रूप में। यही नहीं, माता के रहस्य की उस ने आजीवन रक्षा की। किसी भी प्रकार पाण्डवों को पता न चलने दिया। क्रोध प्रकट करते समय भी माता के दोष की ओर संकेत न किया। हो सकता है कि इसी सत्य को ढकने के लिए वह दुर्वचनों का आश्रय लेता रहा हो। कृष्ण-कर्ण-मिलाप के अवसर पर उस ने कृष्ण के प्रति ममता भरा व्यवहार किया। अन्त में जब धरती उस के रथ के चक्र को लील लेती है और कृष्ण उसे अवसर न दे कर अर्जुन को आक्रमण करने को उकसाते हैं तो कर्ण कहता है, "यह अधर्म है।"

कृष्ण कर्ण के समस्त दुर्वचनों और दुष्कार्यों का हवाला दे कर पूछते हैं, "तब तुम्हारा धर्म कहाँ था ?" तो वह लज्जावनत हो जाता है और मृत्यु की शरण लेता है। शल्य से वाद-विवाद किया था, अब वाद-विवाद नहीं करता। अब उस के हृदय के क्षितिज विस्तार पा चुके हैं। युद्ध की छोटी-मोटी विजय और पराजय और शोक उस के हृदय में घर कर चुके थे। युधिष्ठिर और अन्य पाण्डवों को उस ने पकड़ा और छोड़ दिया और युधिष्ठिर कट कर रह गये। ऐसे भी क्षण आये जब कर्ण को अभिमन्यु, अर्जुन और भीम तक से हारना पड़ा। एक बार तो कर्ण पीठ दिखा कर भागा। एक बार भागते समय अपने को कोसता हुआ बोला, "कहते हैं धर्म उसी की रक्षा करता है जो धर्म की रक्षा करता है। मैं ने सदा धर्माचरण किया; तब धर्म मेरी रक्षा क्यों नहीं करता ? धर्म मेरे हृदय में संशय उत्पन्न करता है।" कर्ण के जीवन को समग्रता में देखें तो उस के कथन का सत्य सही मालूम पड़ता है; किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से गढ़ों-कुइयों को देखने पर कृष्ण के मर्मभेदी शब्द भी याद आते हैं।

जब कर्ण लज्जान्वित हो उठता है, वह क्षण बहुमूल्य है। यही है वह क्षण जो उसे अपने कृतित्व का नग्न रूप दिखा जाता है। वह दृढ़ता पूर्वक लड़ने के लिए तैयार होता है, पर स्थिति सब तरह से प्रतिकूल है। कौरवों ने उसे अकेला छोड़ दिया है; रथ का पहिया धरती में धँस चुका है। मर्मभेदी सत्य ने आँखें खोल दी हैं; हृदय टूट चुका है। और कर्ण है जो सन्तोष को उर से चिपटाये हुए है कि जो भी किया, मित्र के हितार्थ किया; और मृत्यु के सामने एकाकी खड़ा है।

कर्ण चला तो गया जीवन के पार, परन्तु उस का जीवन सहस्र शब्दों में गूँज उठा। कुन्ती ने युधिष्ठिर को कर्ण का जन्म-रहस्य बतलाया। प्रायः युधिष्ठिर कुपित नहीं होते, इस बार आग-बबूला हो कर उन्होंने कुन्ती के माध्यम से अखिल नारी-जाति को अभिशाप दिया। बोले, "यह रहस्य पहले ही बताया होता तो इतना अनर्थ तो न होता।" कर्ण को देख कर युधिष्ठिर हमेशा क्षुब्ध हो जाते थे; नये नाते को जान कर उन की क्षुब्धता की सीमा न रही। वैर समाप्त हो गया; बन्धुहत्या का पातक हृदय का बोझ बन गया। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कर्ण के मरण के पश्चात् पाण्डवों के हृदय में जो भी भाव जगे, वे उन में अपने समस्त व्यवहार के प्रति अनुताप व्यक्त करते हैं। कर्ण का आचरण कभी-कभी क्रूर हो उठता था, अन्याय की ओर झुक जाता था; परन्तु दैव ने उस के साथ जो निर्मम खेल खेला था, उस के लिए उपमा ढूँढ़ना मुश्किल है—पाण्डवों ने यह पहली बार अनुभव किया। यदि कर्ण प्रकट रूप में कुन्ती-पुत्र के रूप में जी पाता, तो वही द्रौपदी को प्राप्त करता। राज्य उसी को मिलता। कुन्ती की गोपनीयता ने कर्ण के निसर्गदत्त अधिकार को छीन कर पाण्डवों को दे दिया। अनजाने ही सही, यह तो मानना ही पड़ेगा कि उस के जीवनसर्वस्व का अपहरण उसी की माता ने, उसी के भाइयों ने किया। कर्ण ने सब कुछ सहा, सहते-सहते मरण का वरण किया। सर्वस्व को सब के सामने, दर्पपूर्वक पाण्डवों की झोली

में डाल कर चल दिया ! पाण्डवों ने उस के लिए क्या किया ? पाण्डवों ने उस का श्राद्ध किया ।

और कुन्ती ? चिरयौवन का अभिशापित वरदान लिये कुन्ती—इस कुन्ती की व्यथा भी कर्ण की तरह अथाह है । वह भी एकाकिनी है । उस के एकाकीपन का भग्न उत्तराधिकार सिर्फ़ कर्ण को मिला है : वही दोनों को जोड़ता है । कुन्ती ने श्रीकृष्ण से दुख का वरदान माँगा है । क्या वह कर्ण के दुखी जीवन के लिए अपने को उत्तरदायी मान कर प्रायश्चित्त कर रही थी ? कुन्ती आरम्भ से दुखी रही है और दुख को केवल कृष्ण के सामने वाणी देती है : आखिर वे उस के मायके के सहृदय व्यक्ति हैं । श्रीकृष्ण के सामने वह बहुत बड़ी शिकायत पेश करती है और उस का अब तक छिपाया हुआ दुख बाहर आ जाता है । कुन्ती यादव-कन्या है जो कुन्तिभोजराज को गोद दी गयी थी । वस्तुत: दो सामर्थ्यवान् पिताओं के रहते कुन्ती अनाथ ही तो थी । यदि वह यादवों में ही बनी रहती तो बिना झंझट के विवाह हो जाता और कर्ण जैसे पुत्र को त्यागने की नौबत न आती ! दैव-दुर्विपाक से पिता के हृदय में अपनी सुघर-सलोनी बेटी को वैभवशालिनी रानी के रूप में देखने की चाह जगी और कुन्ती कुन्तिभोजराजा की मानी हुई कन्या बन गयी । बड़े घर में आयी तो बड़े उत्तरदायित्व आये । कच्ची वयस में दुर्वासा से विचित्र वर पाया । जिज्ञासा ने सूर्य का आवाहन कराया तो गर्भधारण करना पड़ा; आगे चल कर पाण्डु से विवाह हुआ और फिर पाण्डवों का जन्म । पाण्डवों को जन्म देने से पहले कुन्ती ने दुर्वासा से प्राप्त वरदान की खबर पति को दी थी; लेकिन कर्ण के जन्म की कहानी वह छिपा गयी । क्या पता, उस समय पुत्र-प्राप्ति की कामना में पागल हुआ राजा पाण्डु कदाचित् कर्ण को पुत्र के रूप में स्वीकार भी कर लेता !

कर्ण चला गया और कुन्ती को इस वेदना ने डँसा कि उस का श्राद्ध तक नहीं होने वाला । जय-पराजय की तीव्रता तो मिट ही चुकी थी । अब कुन्ती पाण्डवों की माता थी, लेकिन उन के सुखैश्वर्य की हिस्सेदार नहीं थी; अब वह केवल कर्ण की माता थी । बूढ़े सास-ससुर के साथ रह कर उसे अपने जीवन की इतिश्री करनी थी, वे सास-ससुर जिन के कल्याण के लिए कर्ण ने प्राण दे दिये थे । कर्ण के मरण को प्रेम का प्रतीक बनना था । ईर्ष्या-जलन मिट कर दोनों परिवारों में मेल-जोल स्थापित होने को था । मृत्यु को साक्षी बना कर कुन्ती ने उस व्रत को निर्भयता से स्वीकार किया । अन्तिम बिन्दु तक वह अपना जीवन हठ पूर्वक जीती रही । लोभ नहीं था, दुख से भारी हुए बोझ को पाप के प्रायश्चित्त के रूप में ढोना था । कुन्ती अपने पति में समरस नहीं हो सकी, पुत्रों में समरस नहीं हो सकी । पुत्रों को उस ने संरक्षण दिया; योग्य स्थान पाने के लिए प्रोत्साहित किया । पर, मन से वह उन की नहीं थी, अपनी भी कहाँ थी ? कर्ण की मृत्यु हो गयी और कुन्ती परम शान्ति पूर्वक उस में समरस हो गयी । जागृत दुख की सहायता से कुन्ती ने अपने जीवन को कर्ण के

जीवन के छोर से जोड़ दिया। जिस राधा ने कर्ण को स्नेह दिया, पोषण किया, उस की दहलीज छूने की तपस्या कुन्ती ने की। कर्ण के पीछे घिसटते हुए जाने में सुख माना। द्रौपदी, पाण्डव और कुन्ती के बीच कर्ण दुबारा जी उठा। मृत्यु ने कर्ण को नवीनता दी। व्यास ने लिखा है कि कर्ण मृतावस्था में भी अत्यन्त सुन्दर दिख रहा था। यही सौन्दर्य उस सौन्दर्यप्रेमी जीव ने पाया, अन्य किसी ने नहीं पाया, इसी में कर्ण के सतत वर्धमान जीवन का सार छिपा है। प्रत्येक युग में, प्रत्येक व्यक्ति में, प्रत्येक दुख-निराशा के क्षणों में, सुख की लालसा में, पराक्रम के दुर्दम्य आवेश में, स्नेह के आविष्करण में एक कर्ण स्थान-स्थान अवतीर्ण होता है। मात्र क्षणार्ध के लिए। कर्ण दिलासा देता है और चल देता है। अधिक समय तक वह नहीं रुकता। कर्ण पर किसी का अधिकार नहीं चलता। कर्ण किसी का नहीं है। कर्ण एकाकी है। शिखर की भाँति ऊँचाइयों के पार चला गया है। परन्तु सब की वेदना का, स्वाभिमान का, पराक्रम का और सज्जनता का प्रतीक सिर्फ़ एक ही है, और वह कर्ण ही है; इस में सन्देह नहीं है।

परीकथा से यथार्थ की ओर

अर्जुन के व्यक्तित्व के दो पहलू हैं । एक अर्जुन वह है जो राजकुमार है और स्वप्नलोक में विचरण करता है, दूसरा अर्जुन वह है जो प्रौढ़ायु पुरुष है और यथार्थ के दर्शन से स्तम्भित हो रहा है । अर्जुन के जीवन के ये दो अंश यद्यपि एक दूसरे से जुड़े हुए हैं फिर भी जोड़ साफ़ दिखाई पड़ता है । वह जोड़ है भारतीय युद्ध । अर्जुन वस्तुतः धनुर्धारी है, अथ से इति तक । धनुर्धारी का अस्तित्व युद्ध पर निर्भर करता है । बिलकुल शैशव से अर्जुन बराबर इसी भूमिका का निर्वाह करता रहा । कुरुयुद्ध, परन्तु, उस से पहले की और बाद की लड़ाइयों से भिन्न था । विजय पाना आवश्यक था, फिर भी जय और पराजय दोनों ने एक अलग रूप धारण कर लिया था । जैसे दोनों का मिल कर एक रसायन तैयार हो चुका था । युद्ध का परिपाक योद्धाओं के लिए एक नवीनता थी । विशेषतः विजेताओं के लिए । जय की खुमारी टूट चुकी थी, अपजय की विशिष्टता बढ़ रही थी । युद्ध की अन्तिम गति के दर्शन को क्षत्रिय अपनी घुट्टी में पी चुका होता है । फिर पाण्डवों के सामने जो नया सत्य अवतीर्ण हुआ, वह माने हुए दर्शनों से एकदम भिन्न था, अब तक के समस्त अनुभवों को निःशेष कर रहा था । वे उसे पकड़ नहीं पा रहे थे; वह उन से छूट भी नहीं रहा था । यही नहीं, वे उसे पूरी तरह समझ भी नहीं पा रहे थे, क्योंकि जो साक्षात्कृत था, वह काल्पनिक रटा-रटाया सत्य नहीं था । वह यथार्थ से तादात्म्य पा चुका था । इस यथार्थ से तादात्म्य पाये हुए प्रखर सत्य का साक्षात्कार होते ही उसे अपने भीतर समाविष्ट करने के लक्ष्य से जो पूर्वानुभव पाण्डवों के पास थे, ओछे साबित हुए । कृष्ण ने उस सत्य की व्याख्या करने से इनकार कर दिया । शायद उन्होंने सोचा हो कि सत्य मूढ़ता के आवरण में रहता है तो वही ठीक है । यथार्थ के अद्भुत से हुए संयोग का फल वह सत्य; उस का नामकरण करना तो दरकिनार, उस को स्पर्श करना तक पाण्डवों के लिए मुश्किल हो गया । और सत्य था जो पाण्डवों के सामने डटा था । जब तक शत्रुता की दीवार खड़ी थी तब तक सत्य का नाम ले कर उस पर प्रहार कर अपने मन के टटकेपन को टिकाये रखना पाण्डवों के लिए आसान था । परन्तु दीवार के ढहते ही द्वैतभाव के कारण सत्य ने जो स्थूल रूप पाया था, जो परिचित आकृति पायी थी, रंगीन कल्पना के उस पर जो पुट पर पुट चढ़े हुए थे, वे गिर गये, एक अनामता में डूब गये—जैसे रंग-बिरंगे

मेघ अन्धकार में डूब जाते हैं। उस अनामता ने युधिष्ठिर पर गहरा वार किया, उन के बाद अर्जुन पर : दोनों की प्रतिक्रियाएँ निस्सन्देह बिलकुल अलग थीं।

यहीं दोनों के व्यक्तित्व की विभिन्नता विशेष रूप में लक्षणीय हो जाती है। उन का प्रेमबन्धन क्षण भर के लिए टूट जाता है और उन के व्यक्तित्व के अनुकूल उन का सुप्त एकाकीपन व्यक्त हो जाता है। फ़र्क़ इतना ही कि युधिष्ठर के व्यक्तित्व में जोड़ दिखाई नहीं पड़ता। उन की भावनाओं का रूप-परिवर्तन न हुआ। युधिष्ठिर का व्यक्तित्व सागर-तट की भाँति रहा है, जो ज्वार और भाटा दोनों को सतत सह लेता है, इसी कारण उस की बनावट में फ़र्क़ नहीं आता। अर्जुन की वह बात नहीं; इसी कारण जोड़ साफ़ दिखाई पड़ता है। भीम ज्यों का त्यों रहा; कौरवों के प्रति जो विद्वेष उस के हृदय में धधक रहा था, वह कभी ठण्डा न हुआ। फिर भी भीम और युधिष्ठिर की मानसिक एकात्मता एक ही कोटि की नहीं थी। युधिष्ठिर की धारणाएँ तीव्र, प्रखर थीं, उन की एकात्मता का अलग मूल्य है। भीम की एकात्मता बालिश थी, उस ने मूल्य न पाया। अर्जुन के विषय में एकात्मता में जो बाधा उठ खड़ी हुई वह तत्काल ध्यान में आती है। अर्जुन युधिष्ठिर नहीं था, परन्तु हृदय उस का उन के समानान्तर रहता था। वह भीम भी नहीं था, परन्तु वह भीम को युधिष्ठिर की अपेक्षा अच्छी तरह पहचानता था, उस में समरस हो सकता था। क्यों? क्योंकि अर्जुन परीकथा के सहज, व्यापक-विस्तृत विजेता का प्रतीक है। अर्जुन परीकथा का आदर्श नायक है। आदर्श नायक होने के नाते वह मानसिक दृष्टि से युधिष्ठिर के निकट है, और शारीरिक दृष्टि से भीम से निकटता रखता है। प्रायः सारा जीवन अद्भुत-लोक का यात्री बना रहा नायक अर्जुन। उस अद्भुत का उपनायक है भीम, और युधिष्ठिर? वे एक समय अद्भुत का पोषण करते हैं और दूसरे समय यथार्थ के दर्शन करा कर अद्भुत के तमाम जादू को फूंक मार कर उड़ा देते हैं।

अद्भुत-कथा का नायक अर्जुन अन्य नायकों की भाँति समान आकार की, समान कोटि की घटनाओं के मण्डलों में विचरण करता है। अर्जुन की कहानी अन्य किसी भी कहानी की तरह अति सुलभ हो जाती है। एक है राजकुमार; बेचारी वनवासिनी विधवा का बेटा। तीन भाइयों में सब से छोटा। राज उस का छीन लिया चाचा ने। बड़े भाई को अपने राज की चाह; तो छोटा भाई गुरु के यहाँ जाता है, वीर बनता है। चाचा और उस के बेटे से सहा नहीं जाता, वह उसे जंगल में भेज देता है। नायक लाक्षागृह से बाहर निकलता है। खाण्डववन में अद्भुत चमत्कार दिखाता है। भाइयों के साथ राजकुमारी के स्वयंवर में जाता है; उसे जीत कर लाता है। लौट कर राजसूय-यज्ञ में शूरता दिखाता है। एक के बाद दूसरी राजकुमारियों से विवाह करता है। देश-विदेश में भ्रमण करता है, पराक्रम दिखाता है, तपस्या करता है, सिद्धियाँ प्राप्त करता है। अद्भुत-कथाओं में नायक का साध्य होता तो है दुराराध्य, लेकिन नियत समय पर, नियत उपायों से प्राप्त हो कर ही रहता है। ऐसे ही नियत उपायों का अवलम्बन

कर अर्जुन नागकन्या उलूपी, चित्रांगदा आदि का पाणिग्रहण करता है। किरातों से युद्ध करता है; उन से वरदान पाता है। भाइयों के साथ कुछ दिन मयसभा के अति अद्भुत प्रासाद में निवास करता है। भाइयों की खातिर अनेक राजाओं से युद्ध कर के अपरम्पार सम्पत्ति लूट कर लाता है। काम और अर्थ के सिलसिले में पूरी सफलता पाता है। जप-तप के मामले में किसी से कम नहीं है नायक। एक दिन इन्द्रसभा में जाना होता है—भारतीय अद्भुत-कथाओं के सभी नायक एक बार तो जाते ही हैं। इन्द्रलोक की अप्सरा उस पर मोहित हो जाती है—यह भी हो कर ही रहता है। अर्जुन उर्वशी को स्वीकार नहीं करता और अस्वीकृति से उत्पन्न अभिशाप का परीकथा वाला वलय यहाँ भी उसे घेर कर घूमता है। एक कोई नाग है, अर्जुन से वैर रखता है; क्यों ? तो इसलिए कि, कहते हैं, एक बार अर्जुन के बाण ने नाग की बाँबी में घुस कर उसे आहत कर दिया था। बदला लेने के लिए वही नाग बाण बन कर कर्ण के तूणीर में जा बैठा। परीकथा के तपस्वी वैरी की तरह कर्ण भी बड़ा नेमी-धरमी है। एक बाण को वह दुबारा नहीं चलाता, इसलिए जब नाग का वैर अर्जुन का कुछ नहीं बिगाड़ पाता तो नाग उलटे कर्ण को डँसता है। गोग्रहण-संकट का निवारण हो जाने के बाद राजा विराट् अपनी पुत्री उत्तरा को अर्जुन को सौंप देते हैं। अर्जुन उसे पत्नी के रूप में नहीं, बल्कि पुत्रवधू के रूप में स्वीकार करता है। उसे अपनी प्रौढ़ायु का स्मरण हो आता है—और व्यास इसी क्षण एक मज़बूत धागा बुन कर अर्जुन को यथार्थ से बाँध देते हैं। उर्वशी को इनकार करते समय अर्जुन के ध्यान में आता है कि उर्वशी और उस के बीच दादी और नाती का रिश्ता है। यहीं युधिष्ठिर का यह भाई आदर्श भूमिका में आ जाता है। युधिष्ठिर की भाँति। इसी जगह व्यास ने यथार्थ और आदर्श की चेतना के बीज पहली बार बोये हैं और परीकथा के तन्तुओं को परम कौशलपूर्वक चैतन्यपूर्ण कर दिया है। यह चैतन्य कल्पना से स्फुरित नहीं है। परम्परागत परीकथाओं में वह पाया जाता है, पर उस के कारण कथा निर्जीव प्रतीत होती है। इस शिल्प को अपनाते हुए व्यास ने यश की दुर्बलता को पहचान लिया है; इसी कारण शिल्प को एक अलग मोड़ दे कर तीखे रंगों को सौम्यता दी है। अपनी कथा के नायक के एकाकी भ्रमण को बड़े भाई और द्रौपदी के कठोर नियन्त्रण में रखा है, और कथा को युद्ध-विजय के साथ समाप्त नहीं किया है। साथ ही परीकथा की सुकोमल सज्जा को ज़रा भी भंग नहीं होने दिया है। दिव्य अस्त्रों को प्राप्त करने के लिए अर्जुन काम्यकवन से अकेला महावन में गया और सारे भाइयों को सुन्दर वन शून्यवत् दिखाई पड़ने लगा। अर्जुन की प्रिय पत्नी ने जो अनुभव किया वह कुछ और ही है। द्रौपदी कहती है, ''पेड़ों से फूल झांक रहे हैं, फिर भी वन मुझे उजाड़ दिख रहा है।'' भाई धनुष की टंकार नहीं सुन पाते, सारा वन उन्हें निर्जन प्रतीत होता है; और द्रौपदी को लग रहा है जैसे वन्य सौन्दर्य निष्प्राण हो गया है। जिस प्रकार परीकथा में खोये हुए नायक की तलाश में भाई जाते हैं, नायिका जाती है, उसी प्रकार यहां भी चारों पाण्डव और

द्रौपदी अर्जुन की तलाश में जंगलों के बाद जंगल छान मारते हैं। व्यास ने परीकथा की चुनी हुई सुकुमार कथाओं को लिया है और अपनी कथा को परीकथा की सामान्य जकड़बन्दी से बचाया है।

अपनी परीकथा का समापन भी व्यास ने मज़ेदार ढंग से किया है। स्वप्न के अन्तर्गत स्वप्न होता है न, वैसे ही। गीता-कथन तथा विश्वरूपदर्शन अर्जुन के भीतर छिपे नवयुवक की स्वप्निलता के कलश हैं। उस के पश्चात् क्रिया और प्रतिक्रिया की श्रृंखला आती है। परीकथा सामान्य हो अथवा असामान्य, आवश्यकता रहती है नायक के लिए किसी अतीन्द्रिय, परम शक्तिशाली सलाहकार की। यहाँ कृष्ण ने यही भार उठाया है। अपने को अर्जुन से अलग करते समय श्रीकृष्ण ने उसे परमोच्च प्रसाद का क्षण जीने दिया है। श्रीकृष्ण जीवन-मृत्यु के लाक्षणिक अर्थ को सुलझा कर अर्जुन के जीवन की परीकथा के विरल पटल को चीर देते हैं। पर, इतने धीमे तरीक़े से कि पता ही नहीं चलता कि पटल कब हट गया। जैसे जड़ी-बूटी सुँघा कर वे छोटे-छोटे भ्रमजालों और स्वप्नदृश्यों को समाप्त कर देते हैं। अब द्रौपदी, उलूपी, चित्रांगदा नायिकाएँ नहीं रह जातीं, वे प्रौढ़ायु माताएँ दिखाई पड़ती हैं। अर्जुन जीतना चाहता था सिर्फ़ राज्य, लेकिन जीतने का उन्माद ठण्डा पड़ चुका था। इस के आगे उसे नया जीवन जीना था। गत जीवन की स्मृतियों को सँजोना तक नहीं था। दर्शन ने अर्जुन को सोते से जगा दिया था। वह युद्ध में अब मारे गये पुत्र का पिता था; पाप का धनी था। पुण्य का उत्तराधिकारी था, भक्त था। वह अब प्रौढ़ था, रिक्त भी था।

जहाँ परीकथा के नायक की कहानी समाप्त होती है, वहीं से रिक्त प्रौढ़ की रूखी यथार्थवादी कहानी आरम्भ होती है। परम्परागत काव्यमयता समाप्त हो जाती है और यथार्थ के प्रदेश में क़दम रखते ही व्यास की संयत और प्रगल्भ काव्यमयता का चमत्कार दिखाई पड़ता है। कुछ ऐसे प्रसंगों में जहाँ अद्‌भुत और यथार्थ का सहज सामंजस्य होता है, व्यास की प्रतिभा का साक्षात्कार हो जाता है। परीकथा के नायक का एक गुरु होता है। अर्जुन के दो गुरु हैं : कृष्ण और कभी-कभी युधिष्ठिर। युधिष्ठिर की प्रेरणा पा कर अर्जुन इन्द्रसभा में जाता है। वहाँ जाने की शक्ति उस ने पायी तो केवल युधिष्ठिर से प्राप्त अमूल्य प्रतिस्मृतिविद्या के बल पर, जो स्वयं युधिष्ठिर ने व्यास से पायी थी। इसी विद्या की शक्ति के कारण अर्जुन इन्द्रसभा में रह कर भी अपने लक्ष्य को भूल नहीं पाया। उर्वशी के प्रलोभन से मुक्त रहा। देखा किया उस का सौन्दर्य, उस का नृत्य, और देख कर भी पहचान न पाया। उर्वशी उसे पूर्वजों के लिंगातीत रूप में दिखाई पड़ी क्योंकि इन्द्रलोक के दिव्य उपभोगों में वह डूब नहीं गया। वहाँ का सुख उस के लिए नहीं था, वह द्रौपदी में अटका हुआ था। उस के दुख की अनुभूति ने उसे बेचैन कर दिया था। वह मात्र तपस्वी था। यों द्रौपदी ने उसे थोड़े ही अन्य स्त्री से सम्बन्ध रखने से मना किया था! कुटुम्बशील अर्जुन अपनी पत्नी को भुला न सका। भाई को नहीं भूल सका। द्यूत का शूल न भूल सका।

युधिष्ठिर के विषय में एक सूक्ष्म कटुता उसे बींध रही थी। एक ओर प्रेम था, दूसरी ओर घृणा। यही मनोदशा रही जिस ने परीकथा के वातावरण को भंग न करते हुए भी अर्जुन को यथार्थ-पराङ्मुख न होने दिया। परीकथा और यथार्थ के बीच स्थित इस तनाव का प्रयोग अनेक घटनाओं में कुशलता से किया गया है। कभी तो तनाव को निचले स्तर पर ले जा कर बिलकुल ढीला छोड़ दिया गया है, और कभी वह ख़ूब खींच कर कथानक को नया मोड़ देता है; यही नहीं, नायक की प्रतिक्रियाओं को वह तीव्र भी बनाता है। यक्षप्रश्न के प्रसंग में वस्तुतः अर्जुन को नायक बन कर आना चाहिए, परन्तु वहाँ युधिष्ठिर नायक बन कर आते हैं और भाइयों को जिलाते हैं। यहाँ तनाव बिलकुल मन्द हो गया है।

भारतीय युद्ध आरम्भ हुआ और दुर्योधन ने विजय के सम्बन्ध में संशय होने के कारण युधिष्ठिर से दुबारा द्यूत खेलने और उन्हें पराजित करने की चाल चलनी चाही। जिस समय द्रोणाचार्य ने दुर्योधन के सामने जीवित युधिष्ठिर को पकड़ कर पेश करने की प्रतिज्ञा की, युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा, "अर्जुन, यदि उन की प्रतिज्ञा पूरी होती है तो मेरे पश्चात् तुम लड़ाई जारी रखना।" अर्जुन पर परीकथा के आदर्श-नायक का नशा छाया हुआ था, बोला, "मैं द्रोणाचार्य पर शस्त्र-प्रहार नहीं करूँगा, न आप को बन्दी बना कर ले जाने दूँगा। जब तक मैं जीवित रहूँगा तब तक आप को कोई हाथ नहीं लगा सकता।" अर्जुन को अपने सत्याचरण पर गर्व हो आता है; वह कहता है, "मुझे याद है, मैं ने कभी झूठ नहीं बोला। मुझे याद है, मैं कभी पराजित नहीं हुआ। मैं ने कभी अधर्माचरण नहीं किया। आप भयभीत न हों।" अर्जुन की यह भूमिका यक्षप्रश्न-प्रसंग की भूमिका से एकदम भिन्न है। यहाँ दोनों भाइयों ने आपस में अदला-बदली कर ली है। इस प्रसंग के बाद अर्जुन के एक मात्र गुरु रह जाते हैं श्रीकृष्ण।

भय ने युधिष्ठिर को अस्थिर कर दिया। कभी उन्हें जान बचाने के लिए भागना पड़ा, कभी कर्ण द्वारा पकड़ कर छोड़ दिये जाने पर अपमानित होना पड़ा। अर्जुन ने उन की रक्षा की; रक्षा तो की लेकिन अभिमन्यु की बलि दे कर। युधिष्ठिर के मुँह पर मुरदनी छा गयी। अर्जुन से आँख मिलाने की हिम्मत न रही। इसी समय अर्जुन ने जयद्रथ का वध करने की प्रतिज्ञा की। अपने शोक को पी कर उस ने कहा, "मेरे शस्त्रों को साधारण न समझें। मेरे धनुष को मामूली न मानें। मेरी भुजाओं के सामर्थ्य को कम न कहें। यह धनंजय असामान्य है।" और अपनी मन की मजबूती को दिखा कर बोला, "अगर अभिमन्यु धराशायी होता है तो मैं प्राण त्याग दूँगा।" अर्जुन ने दुबारा वीरता दिखायी; दुबारा परीकथा का अल्पकालिक नायक बना। कृष्ण के साथ हिमालय पर्वत पर जा कर पाशुपतास्त्र प्राप्त किया।

जयद्रथ-वध के बाद अर्जुन को श्रीकृष्ण के आदेश से तमाम अच्छी-बुरी धारणाओं को 'युद्धनीति' के नाम पर चलाना पड़ा। कौरवों की मान्यता थी कि युद्धनीति

साफ़-सुथरी हो; श्रीकृष्णार्जुन की धारणा थी कि साधारणतया दैनन्दिन नीति शुद्ध रहे, युद्धकालीन नीति प्रसंगानुकूल हो। जब दोनों दलों की नीति-विषयक मान्यताएं एक-दूसरी को बींधती हुई चलती हैं, तो एक अजीब रिक्तता छा जाती है। और सब रूढ़ और अरूढ़ घटनाओं को एक ही स्तर पर ला रखती है। दिव्य और पार्थिव एकरूप हो जाते हैं; सत्य और असत्य रस्सी की ऐंठन की तरह परस्पर में उलझ जाते हैं। एक ही व्यक्ति कभी वीर तो कभी भीरु दिखाई पड़ता है। दारुण दुख और भीषण आनन्द को अलगाते नहीं बनता। वैर और मैत्री की मर्यादाएँ टूट जाती हैं। सब मनुष्य नाप-तौल में समान ठहरते हैं। कृष्ण वस्तुतः देवता के अवतार हैं; रिक्तता ने उन के विभूति-तत्त्व को भंग कर दिया है। उत्तरा के पुत्र को पुनर्जीवित करने, अश्वत्थामा को विश्व से बहिष्कृत करने, अपने अन्तिम क्षणों में भीष्म को सगुण ब्रह्म-दर्शन का सन्तोष देने आदि प्रसंगों में श्रीकृष्ण का विभूति-तत्त्व बीच-बीच में ज़रूर उभरा है, फिर भी उन का व्यक्तित्व मनुष्यता को पार नहीं कर पाता। अन्य चरित्रों की भाँति वह भी दैवाधीन ही रहा है; उस की गतिविधियों में गुँथा-फँसा रहा है। गुरु के भूमिका-निर्वाह की उसे ऊँची क़ीमत चुकानी पड़ी है। अच्छी-बुरी सलाह देने के उपलक्ष्य में उन्हें स्वयं बहुत बड़ा दण्ड सहना पड़ा है—बल्कि, दण्ड स्वयं उन्हीं ने माँगा है। बग़ैर धूम-धाम के उन्होंने विसर्जन की भूमिका स्वीकार की है। पुत्र-पौत्रादि, सम्पत्ति, यश-कीर्ति को उन्होंने दूसरों से मिले अभिशाप के रूप में भुगता है। पाण्डवों से भी अधिक बेचिराग़ हुए अपने घर को देखा है। धृतराष्ट्र ने जो संहार देखा था, उस से भयानक संहार वसुदेव को देखना पड़ा है। कौरव तो आख़िर युद्ध में मारे गये, पाण्डवों का यह श्रेय मामूली नहीं था; यादव तो उस से भी वंचित रहे। क्षुद्र भाई-भाई के वैर और मिथ्या गर्व ने उन्हें खा लिया। यदि गदा कौरवों की मृत्यु की प्रतीक थी, तो मूसल यादवों की मृत्यु का। इस प्रतीक में ही यादवों की शोककथा का सार निहित है। ख़ैर, इतना ही होता तो कोई बात न थी। परन्तु श्रीकृष्ण की अन्तःपुरवासिनियों का अपहरण किया गया और अर्जुन की वीरता उन्हें मुक्त कराने में चुक गयी। परीकथा का राजकुमार यहीं मर गया। आम परीकथा नायक के गौरव के शिखर पर रहते समाप्त होती है और नायक चिरजीवन की प्राप्ति करता है। इस अभिनव व्यासकथा में अर्जुन छोटी-मोटी मृत्युएँ प्राप्त करता हुआ अन्त में जीवितावस्था की महामृत्यु द्वारा ग्रस लिया जाता है। स्वर्गारोहण वह नहीं करता, उस की छाँह करती है : युधिष्ठिर के भाई की छाँह; द्रौपदी के पति की छाँह। उस की अपनी आकृति युद्ध में धीरे-धीरे मिटनी शुरू हुई और कृष्ण-मरण के पश्चात् पूरी तरह मिट गयी। कृष्ण अर्जुन की वीरता की प्रेरणा थे, वे अर्जुन के दोषों के भी शब्दशः भागी थे। कृष्ण ने एक बार कहा था, ''मेरे लिए अर्जुन पुत्र-पौत्रादि, पत्नी, राज्य सब से—प्राणों से भी प्रिय है।'' व्यास ने उन के कथन का सांकेतिक प्रयोग किया है। 'कृष्ण के प्राण अर्जुन और अर्जुन के प्राण कृष्ण' इस वचन को ध्यान में

रख कर व्यास ने दोनों को एक ही विदारक नियति से जकड़ दिया है और मानवता के मूल्यों को कला के सर्वोच्च धरातल पर चिरकाल के लिए स्थापित कर दिया है। दु:खान्तिका, नीति, बोध, कला, नाट्य, इतिहास, निरूपण—सभी तत्त्वों को मृत्यु की विराट् पृष्ठभूमि में मात्र मानवीय आविष्करण के हेतु एक प्राण कर ढाला है। हर क्षण जीवन और मरण के बीच विद्यमान तनावों को उन्होंने एकसमान गतिमान् रखा है। उन्होंने गर्भस्थ जीव से ले कर भीष्म जैसे जरा-जीर्ण पुरखों तक सब को एक ही आवरण में लपेट लिया है। दुष्ट-सुष्ठ, तुच्छ-महान्—सभी तो विविध भावनाओं के भँवर में फँस कर एकसमान अन्तमय अज्ञात विश्व में प्रवेश कर देखते-देखते विनष्ट हो रहे हैं। शेष क्या रहता है ? सख्त मिट्टी की बनी उन के कार्यों की दीर्घकालिक विचित्र आकृतियाँ। और आकृतियाँ भी मारे गये लोगों की चक्रव्यूहात्मक नियति से उद्भूत। जो बच रहे वे अन्त तक दुविधा में फँसे उन्हीं आकृतियों में उलझे रहे। मृत्यु ने उन्हें मुक्ति दी। उन की इस बद्धता का चिरकालिक प्रतीक है अश्वत्थामा। उस की मृत्युहीनता बेमिसाल है।

मृत्यु के इस विशाल चक्रव्यूह के प्रणेता हैं वीरनायक अर्जुन और उस के गुरु श्रीकृष्ण। अर्जुन को ही सब से पहले व्यूह भयभीत करता है। प्रौढ़ अर्जुन कर्ण के अजेय बल के चमत्कार को देख घबराता है, यों, सभी पाण्डव व्याकुल हो जाते हैं। परन्तु सब की तीखी आलोचना को झेलना पड़ता है अकेले अर्जुन को। यहीं पाण्डवों के अन्तर्गत क्षोभ का नवीन नाटक प्रकट होता है। अर्जुन का बचा-खुचा देवपुत्रत्व व्यास ध्वस्त कर देते हैं; उसे क्षुद्र मनुष्य बना देते हैं। सब से पहले अर्जुन के मन में युद्ध की अनैतिकता प्रश्न बन कर उभरती है, उसे घृणा से भर देती है और भाई-भाई के बीच संघर्ष होता है। अर्जुन को युधिष्ठिर का द्रोण के प्रति असत्याचरण बिलकुल नहीं सुहाता। इस से पहले भी वनवास के समय भीम के साथ मिल कर वह युधिष्ठिर को खरी-खरी सुना चुका था। इस बार अभियोग गम्भीर था। भीम तो युधिष्ठिर से कभी सीधे मुँह बोलता ही नहीं था, परन्तु इस समय वह कौरवों के प्रति वैर की आग में जल रहा था। उन के विरुद्ध जो भी किया जायेगा, कम ही होगा यह उस की धारणा बन चुकी थी। अतः उस ने युधिष्ठिर का पक्ष ले कर अर्जुन को द्यूत और द्रौपदी के अपमान का स्मरण दिलाया।

कर्ण का पराक्रम पाण्डवों को बुरी तरह भयभीत कर रहा था। अर्जुन के रवैये को देख कर भीम ने कहा, "तुम हमारे ज़ख्म पर नमक क्यों छिड़कते हो ? भय ने हमारी जो स्थिति कर दी है, तुम उसे देख नहीं पाते ?" भीम की फटकार आश्चर्य पैदा नहीं करती। फिर भी, बात यहीं समाप्त नहीं होती। सात्यकि धृष्टद्युम्न से कहता है, "द्रोण ब्राह्मण हैं। तुम ने छलपूर्वक उन की हत्या कैसे की ?" और अर्जुन का समर्थन करता है। धृष्टद्युम्न का प्रतिप्रश्न तैयार था; उस ने पूछा, "भूरिश्रवा यज्ञकार्य में मग्न था, घायल हो चुका था, तुम ने उसे क्यों मारा ?" इस पर दोनों लड़ने लगते

हैं और भीम व सहदेव बीच-बचाव करते हैं।

विषाद की चिनगारी चुप नहीं बैठती। यही कह लीजिए कि चूँकि पाण्डवों का पारस्परिक प्रेम स्थायी था, सामयिक मतभेदों से बड़ा था और कृष्ण जैसे सखा सदा-सर्वदा पाण्डव-परिवार की एकता को बनाये रख सके, इसी कारण वह भंग न हो सका। युधिष्ठिर की जागृत ज्ञान-चेतना मन्द न हो पायी; झूठी प्रतिष्ठा और अहंकार से उन्होंने अपने को हमेशा मुक्त रखा। युधिष्ठिर और अर्जुन की एकता इसी लिए अटूट रही।

अर्जुन के परीकथा वाले आरम्भिक व्यक्तित्व को व्यास ने उत्तरभाग तक पहुँचते-पहुँचते बड़ी ख़ूबसूरती से पोंछ दिया है। बल्कि, उन्होंने तो कृष्ण और अर्जुन की गीता-युग की भगवान् और भक्त वाली आदर्श भूमिका को निर्माल्य की भाँति उठा कर फेंक दिया है। युद्ध के पश्चात् अश्वमेध-यज्ञ किया गया। अर्जुन ने अनेक राजाओं को जीत कर धन प्राप्त किया। युधिष्ठिर की आज्ञा थी कि युद्ध में राजाओं का वध नहीं करोगे, पकड़ कर छोड़ दोगे। अर्जुन ने सम्पूर्णतया आज्ञा का पालन किया। बभ्रुवाहन ने अपने पिता को राज्य अर्पित करने का निर्णय किया। अर्जुन को वह अपमानजनक प्रतीत हुआ। उस ने यह कह कर कि मैं राज्य लेता हूँ तो जीत कर लेता हूँ, बभ्रुवाहन को युद्ध करने को ललकारा। युद्ध हुआ, बाप-बेटे आहत हो कर गिर पड़े; अन्त में उलूपी ने संजीवनी-विद्या के बल पर अर्जुन को नवजीवन दिया। व्यास ने इस प्रसंग में अर्जुन की जयिष्णु वृत्ति की ज्यों-त्यों रक्षा की है। आगे चल कर उन्होंने अर्जुन की वीरता के तन्तु को और जिज्ञासु भाव को विदीर्ण कर दिया है। अश्वमेध-यज्ञ की सभा में अर्जुन और श्रीकृष्ण पास-पास बैठे हैं। कृष्ण से अर्जुन कहता है, "कृष्ण, तुम ने मुझे गीता तो सुनायी, परन्तु मेरा चित्त विचलित हो रहा था, अतः मैं समझ न पाया; जो समझ पाया था, वह अब भूल गया हूँ। मुझे दुबारा सुनाओ।"

कृष्ण ने सुना और क्रोध भरे स्वर में बोले, "मैं ने तुझे बड़ी मेहनत से समझाया था और तू भूल गया। यह तुझे शोभा नहीं देता। मुझे भी याद नहीं, क्या बताया था। फिर भी तुम्हें बताने को एक बात याद आ रही है। तुम से ग्रहण करते बने तो करना।"

यह अनुगीता की प्रस्तावना है, वह अत्यन्त मुखर है। अतिरिक्त, अप्रासंगिक दर्शन की ऐसी भीषण शोकान्तिका अन्यत्र नहीं मिलती। मनुष्य बुद्धिमान् होता है, भावनाशील होता है, जीवनानुभव पाने की पात्रता रखता है। सत्य का प्यासा होता है; जिज्ञासा रखता है कि सुख की सुखमयता का क्या अर्थ है। वह जानना चाहता है कि दुख का मूल स्रोत कहाँ है और क्या वह अमृतत्व को स्पर्श करता है। अनन्त काल के बीच उसे अपना मूल रूप दिखाई दे जाता है। यह ज्ञान भी वह नहीं भूल पाता कि जीव सनातन मानवता से सम्बद्ध है। इतना सब होते हुए भी इन सब प्रश्नों का

उपयुक्त और उचित उत्तर मनुष्य को नहीं मिलता । वह सर्वंकष सत्य पाने का प्रयास करता है, हाथ आता है सत्य का मात्र एक कण । वही कण उस का जीवन-दर्शन है । प्रत्येक मनुष्य का दर्शन उस के मन के आकार इतना होता है । मन के रूप-रंग की तरह जन्म पाता है, बना रहता है । जो अतिरिक्त होता है, बह जाता है, धुल जाता है । क्या अर्जुन ने यही सीखा था ?

परीकथा का नायक अर्जुन था, पर उस ने आधार पाया था भीम का । भीम मध्यम कोटि की परीकथा का नायक है । दोनों के पराक्रम दिखाने के क्षेत्र इतने समान हैं कि सरसरी निगाह से देखने पर भेद नहीं करते बनता और प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि व्यास ने एक ही साँचे में ढले दो व्यक्तित्वों को इतना एक-दूसरे के निकट क्यों रखा है । व्यास की प्रतिभा विराट् है परन्तु अतिव्ययी नहीं है । व्यास ने हज़ारों मनुष्यों के व्यवहारों का दिग्दर्शन कराया है, किन्तु एक-दूसरे से पूरी-पूरी तरह मिलते-जुलते मनुष्यों का निर्माण उन्होंने नहीं किया है । न साँचे ही एक समान हैं, न अनाहूत पात्र के प्रवेश के लिए अंगुल भर स्थान रखा है । इसी लिए जब वे भीम और अर्जुन जैसे समान व्यावहारिक व्यक्तियों को दिग्दर्शित करते हैं तो एक ओर तो वे कथानक की एकात्मकता को सुरक्षित रखना चाहते हैं; दूसरी ओर दो पात्रों के साधर्म्य-वैधर्म्य के रंगों की विसंवादी छटाओं को दिखाते हुए यह भी बताना चाहते हैं कि वे एक-दूसरे में घुल-मिल चुकी हैं । इस से कथानक की गति बढ़ाने और उत्सुकता जगाने की शक्ति प्राप्त होती है । चूँकि पात्र एक-दूसरे पर टिके हैं अतः जो आकृतिबन्ध तैयार हो गया है, उसे व्यास ने भीम और अर्जुन के मिले-जुलेपन और व्यक्तिरेखाओं के माध्यम से दिखाया है । यह सब तो है; परन्तु भीम का व्यक्तित्व फिर भी अलग है, भिन्न है । शैशव का भीम स्वतन्त्र है, युवावस्था में अर्जुन की पीठिका बना हुआ है । उस की दोनों स्थितियों को भीम और अर्जुन के मूलभूत स्वभावों के अन्तर द्वारा जोड़ दिया गया है । भीम मूलतः उग्र और आवेगी था, अर्जुन शान्त । प्रेमालु दोनों ही थे । भीम के प्रेम में उतार-चढ़ाव ज़्यादा था और दोनों किसी न किसी काम में, किसी खोज में मग्न रहा करते थे । इसी कारण उन की वीरवृत्तियों का संगुम्फन वनवास से ले कर प्रायः युद्धारम्भ तक बना रह सका है । जैसे ही युद्ध का मध्यकाल निकट आता है, अर्जुन और भीम, दोनों की मानसिक प्रतिक्रियाएँ अलग रास्ते पकड़ लेती हैं । भीम का स्वभाव था, जो भी करेगा अन्तिम तन्तु तक करेगा । भीम ने जो विनाश का कार्य किया, वह अत्यन्त विध्वंसात्मक और विकट था । बचा कर काम करना, कुछ सूत्रों को छिपा रखना उस से नहीं हो पाता था । सब भाइयों में भीम को इस बात का सर्वाधिक खेद था कि मैं ने बचपन से केवल दुख ही पाया है । कभी-कभी उसे अपना जीवन निस्सार प्रतीत होता । अर्जुन ने कभी ऐसा अनुभव नहीं किया । भले ही वर्तमान दुखदायी हो, परन्तु अपने पराक्रम के बल पर अपने भविष्य का निर्माण तो कर के ही रहेंगे; यह उस का लक्ष्य था । वह बराबर सावधान रहता था कि धनुर्विद्या में उस

से कोई आगे बढ़ न जाये। सावधानी से भीम का कोई वास्ता न था। वह ग़ज़ब का प्राकृत था। अर्जुन के संस्कार उस ने नहीं पाये थे। इसी लिए द्यूतक्रीड़ा के समय और कीचक द्वारा विराट् की राजसभा में द्रौपदी पर हुए लत्ता-प्रहार के समय भीम अन्य जनों की तरह अपने विक्षोभ को दबा न सका। यदि उस समय भाइयों की सावधानी भरा संरक्षण न मिलता तो अज्ञातवास सफल न होता।

परीकथा के अर्जुन का परावर्तित अवतार भीम-अर्जुन की अनुपस्थिति में होता है। इस का सब से उत्तम उदाहरण गन्धमादन पर्वत के सुन्दर पँचरंगी पुष्पों के प्रसंग में मिलता है। अर्जुन दिव्यास्त्रों की प्राप्ति के लक्ष्य से जा चुका है। उस के भाई और द्रौपदी तीर्थक्षेत्रों में उस को ढूँढ़ रहे हैं। रास्ते में गन्धमादन पर्वत पड़ता है। पर्वत फूलों से लदा है, चिरसुगन्ध फैला रहा है, वासन्तिक सुषमा से उत्फुल्ल है। वह दिव्य पुष्पशोभा मात्र मानवेतरों के भोग-विलास के लिए रची गयी थी। मनुष्य का पदस्पर्श उस धरती ने नहीं पाया था। सुन्दर पुष्पों में रहते थे यक्ष-राक्षसों के पंचप्राण। उन फूलों को नायिका देख तो ले और कामना न करे, ऐसा कभी हुआ है? द्रौपदी चलने के परिश्रम से श्रान्त! भीम घटोत्कच को बुला कर उसे वहन कर के ले जाने का आदेश दे चुका है। द्रौपदी अर्जुन के विरह में व्याकुल है, शोक से तड़प रही है। किन्तु पुष्पसम्भार देख कर उस का रमणी-हृदय उल्लसित हो जाता है। विलासी वृत्ति लौट आती है। विरहिणी नायिका संगमोत्सुका हो उठी। द्रौपदी भीम की ओर मुड़ी—अर्जुन होता तो उस की ओर मुड़ती। भीम से बोली, "अर्जुन कितने बड़े धनुर्धारी हैं! वे यहाँ होते तो यक्षों से युद्ध कर के ये फूल मुझे ला देते। आप का बाहुबल उन्हीं के समान है। आप मुझे फूल ला कर नहीं देंगे?" ऐसा आवाहन और ऐसी चुनौती पा कर भी यदि नायक नायिका के प्रसादन के लिए अग्नि-परीक्षा नहीं देता, तो वह नायक किस काम का? और ऐसा नायक सफलता नहीं पाता, ऐसा कभी होता नहीं।

परीकथा के अर्जुन के नायकत्व के प्रतिबिम्ब का युद्ध की भयाकुल पृष्ठभूमि में विसर्जन करते-करते व्यास ने समानता की चरम सीमा पा ली है। अभिमन्यु ने वीरगति पायी और अर्जुन जल उठा शोक और कोप से। उस की नियति पाण्डवों की नियति थी। आगे चल कर अश्वत्थामा ने द्रौपदी के सब पुत्रों की हत्या कर सभी पाण्डवों को समान दुख दिया था। परन्तु विशेष नाट्यमय प्रसंग है कर्ण द्वारा घटोत्कच के वध का। वह अभिमन्यु के मरण से भी अधिक करुण है। इसलिए करुण है कि व्यास ने उस में एक सुकोमल भाव का धागा जोड़ दिया है। वह सुकोमल भाव घटोत्कच से नहीं, बल्कि अश्वत्थामा से संलग्न है। जब घटोत्कच अश्वत्थामा से लड़ने के लिए आगे बढ़ा तो अश्वत्थामा ने उस से कहा, "बेटे, तुम से मेरी ज़रा भी शत्रुता नहीं है। मुझ से क्यों नाहक़ लड़ते हो? जाओ, अपने पिता के पास जाओ।" लेकिन अश्वत्थामा उस के पुत्र का वध पहले ही कर चुका था, अतएव वह क्रोध में जल रहा

था। पिता की तरह वह भी अश्वत्थामा पर टूट पड़ा और तब अश्वत्थामा ने उस की चुनौती स्वीकार की।

यदि अर्जुन का पुत्र जाता रहा तो भीम के पुत्र को भी जाना होगा। जो नियति नायक की, वही उपनायक की। घटनाएँ समानान्तर तो रहेंगी ही। व्यास ने परीकथा के भीम की नाट्यभूमिका का यहीं तक विचार किया, किन्तु भीम के नायकत्व की कहानी भारतीय परम्परा में हास्य-विनोदमय रूप में सुरक्षित है। हमारे यहाँ भीम की कहानियों ने कृष्ण की कहानियों की भाँति विस्तार पाया है। कृष्ण की चोरियाँ और शरारतें विनोद का विषय हैं, भीम का दोष भी मधुर विनोद उत्पन्न करता है। कर्ण ने बड़ी निर्ममता से भीम के पेटूपन का उल्लेख किया है। भीम की मृत्यु का कारण बताते हुए युधिष्ठिर के मुख से निकल ही जाता है, "बड़ा पेटू था, इसी लिए जीते जी स्वर्ग नहीं पहुँच सका!" भीम के पेटूपन को, धींगामुश्ती को, उस की अपार शक्ति को भारतीय लोककथाओं ने अथाह स्नेह दिया है। भीम का भोला-भालापन और अन्तिम विजय हमारी लोककथाओं के बुद्धू विधवा-पुत्र को प्राप्त विजय का ही एक रूप है। भीम सम्बन्धी इस छटा को व्यास ने कुछ इस प्रकार सहेजा है कि वह सहज ध्यान में नहीं आती। आज भी भीम के क़िस्से जंगलों तक में मंगल मना रहे हैं। पाचगणी (महाराष्ट्र) में भीम का धमधूसड़ भाड़ आज भी मौजूद है, जहाँ वह रोटी पकाता था। ठाणे (महाराष्ट्र) की सूर्या नामक नदी का अधूरा बाँध भीम द्वारा बनाया हुआ बताया जाता है। कहीं-कहीं आदिवासी बतलाते हैं कि खिले शालवृक्षों को भीम कान के ऊपर तुर्रे की तरह खोंसता था। भीम एक कुमारी से विवाह करना चाहता था, लेकिन उस की शर्त थी कि एक रात में नदी का बाँध बनाना होगा। छलिया देवता मुर्ग़े का रूप ले कर आया और लगा बाँग देने, बेचारा भोला भीम! समूचे भारत में यह कथा स्थान-स्थान फैले जीर्ण-शीर्ष भग्नावशेषों, प्रचण्ड शिलाखण्डों और अधूरी मूर्ति-सज्जित गुफाओं के सन्दर्भों में सुनायी जाती है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में हास्य-विनोद का अभाव है, किन्तु लोक-परम्परा ने विनोद के आविष्करण का अवसर खोज ही लिया। भीम जैसी लोकप्रियता अर्जुन को प्राप्त न हुई। लोककथाओं में पाण्डवों की कहानियों का नायक प्रायः भीम होता है।

परीकथा के वातावरण में समाया हुआ भीम युद्ध के पश्चात् अर्जुन से अलग पड़ जाता है, किन्तु अर्जुन के समान जागृति का अधिकारी नहीं हो पाता। यथार्थ उसे धक्का नहीं दे पाता। मृतप्राय दुर्योधन को वह लात मारने से बाज नहीं आता; यही नहीं, जब वृद्ध धृतराष्ट्र युधिष्ठिर के पास जा कर पुत्रों के श्राद्धादि के सिलसिले में द्रव्य माँगते हैं, तो भीम कहता है, "बुड्ढे को कानी कौड़ी तक न देना।" कौरवों के वैर को भीम भुला ही नहीं पाता। न वैर के कारण वह कभी अनुताप ही करता है।

अर्जुन में प्रतिक्रिया की चेतना है। वह पराक्रम की स्फूर्ति से उद्वेलित होता

है, अपनी भूल जान कर लज्जित होना जानता है। भीम में यह चीज़ है ही नहीं, इसी लिए उस के कार्यों का कोई विशिष्ट और स्वतन्त्र मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। भले ही हम भीम को परम्परा से श्रेय प्राप्त करते हुए देखें, फिर भी भीम जीवन का सूक्ष्म अनुभव पाने में असमर्थ जान पड़ता है। वह अर्जुन की भाँति भावजीवी नहीं है। अर्जुन की मूढ़ता और भीम की स्थूल जड़ता की तुलना करना बेकार है, क्योंकि अर्जुन ने तरल संवेदनक्षमता पायी थी। यही कारण है कि वह भावुकता के बल पर, कुछ समय तक ही सही, गीता के दर्शन की मनमोहकता में डूब सका।

मुक्त पथिक

पाण्डवों में कुन्ती के तीन बेटे ही असल में जेठे हैं; माद्री के दोनों बेटे छोटे क्या, हेठे ही समझिए। सच तो यह है कि उन का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है। कहते हैं नकुल अत्यन्त सुन्दर था—इस से अधिक याद नहीं आती उस की। यों, कृष्ण, अर्जुन, कर्ण सभी सुन्दर थे, प्रियदर्शन थे। लेकिन उन में सौन्दर्य से भी कुछ और था, बहुत ज़्यादा था। अद्वितीय देह-सौन्दर्य और शून्य व्यक्तित्व वाला संस्मरणीय भारतीय पुरुष एक ही था : नकुल। महाभारत में सहदेव का उल्लेख तो और भी विपरीत तरीक़े से किया गया है।

अज्ञातवास के दौरान सहदेव ज्योतिषी-पण्डित बना था। भारतीय लोक-परम्परा ने इस तथ्य का सुन्दर प्रयोग किया है। महाराष्ट्र में ही नहीं, दूर छत्तीसगढ़ के इलाक़े में भी पोथी बांचने वाले ब्राह्मण को सहदेव कहा जाता है। सहदेव-भाडळी के ज्योतिष की प्रथा में उस का निर्देश मिलता है। फिर भी तीन कौन्तेयों का क्या कहना! वे वही थे। प्रश्न यह है कि ऐसी स्थिति में व्यास ने भरती के पात्रों को लिया ही क्यों। दुर्योधन को दुःशासन का आधार मिला; परन्तु दुःशासन का अपना व्यक्तित्व है। दुर्योधन में क्रूरता नहीं है, वह दुःशासन में सुरक्षित है। यदि दुःशासन न होता तो शकुनि के द्यूत-प्रसंग के अन्त में, द्रौपदी-चीरहरण के उस बेजोड़ प्रसंग में, ऐसा प्रचण्ड आवेग ही न रह पाता। जो उस प्रसंग के साक्षी थे वे, युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी, उस की भयावह छाया से मुक्त न हो सके। भीम तो अर्जुन की पीठिका ठहरा; उस का निर्माण ही एक ज़बरदस्त कुहराम का फल है। परन्तु नकुल-सहदेव के हिस्से में कोई ऐसी घटना नहीं आयी जो महाभारत के नाट्य को चमका दे। फिर भी ये पात्र भरती के पात्र नहीं हैं। गहराई में जा कर उन्हें सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर वे दोनों पाण्डव मेहराब के दो आधारस्तम्भ हैं जो निःशब्द, निस्तब्ध हो खड़े हैं। भगवान् के दुआरे भीमकाय पहरेदार खड़े दिखाई पड़ते हैं न, ठीक वैसे ही हैं ये। गूंगे हैं, जागरूक हैं। पराक्रमी हैं, संयत हैं। आदेश की प्रतीक्षा में खड़े हैं। अपने कृतित्व को स्वयंप्रेरणा की चारदीवारी से घेर चुके हैं। पहले तीन पाण्डवों को उन्होंने सहानुभूति और सहायता दी। दोनों के अस्तित्व का वही कलात्मक महत्त्व है जो किसी चित्र की पृष्ठभूमि का होता है। उन की रंगातीतता तीनों कौन्तेयों के रंगीन व्यक्तित्वों का पोषण करती है, इसी लिए उन्हें रिक्त नहीं माना

जा सकता। वे हैं, इसी लिए तो कुन्ती का मातृत्व महानता को स्पर्श करता है। वे सुकुमार हैं, कुन्ती पर निर्भर हैं, उसे हर्षित करते हैं और उन में लालित्य है। उन में शुभ्रवर्ण का निर्मल निथार है। उन में ज़रा भी उच्छृंखलता नहीं है, इसी लिए व्यास कुन्ती और उन दोनों के बीच स्थित दृढ़ स्नेह-सम्बन्धों को दिखा सके हैं। अगर सौतेलेपन का नितान्त अभाव दिखाना है, निष्पक्ष और सफल वात्सल्य दिखाना है, तो वह सौतेली माता के ऐसे सीधे-सादे सज्जन प्रकृति के बेटों के रहते ही दिखाया जा सकता है। उन के अस्तित्व के कारण ही कुन्ती की कर्ण विषयक निर्ममता नीचता की पराकाष्ठा नहीं कहलाती। सम्भवतः कुन्ती को कर्ण-जन्म के कलंक से बचाने के लिए ही इन का जन्म, इन की माता की मृत्यु और कौन्तेयों के सम्बन्ध में इन की निष्ठा का उपयोग व्यास ने किया है। दुःशासन के अस्तित्व के कारण ही व्यास दुर्योधन की खलता की कालिमा को उस के मृत्यु-प्रसंग द्वारा पोंछ कर उसे करुणा की नीलाभ छटा से अंकित कर पाये हैं। दुःशासन तो दुर्योधन की खलता को सम्पूर्णतया लपेट कर जाता रहा। कर्ण भी मुक्त हुआ। पारे की तरह शकुनि भी पकड़ में न आया। लेकिन इन सब पात्रों के आचार और बोलचाल के अंगारों के बीच अकेला दुःशासन खड़ा था। नीचता के पाप से वह छुटकारा न पा सका। नकुल-सहदेव की भूमिका दुर्योधन से बिलकुल भिन्न है। उन के रंगातीत शीतल व्यक्तित्व पाण्डवों के सुयश का, उन की गुणवत्ता का, अनजाने संरक्षण करते हैं। वे दोनों मानो कुन्ती का एक क्रियाशील और सुखकर रूप हैं। उन के अस्तित्व पर ही कौन्तेयों के व्यक्तित्व की ताजगी सतत निर्भर करती है।

जब कौन्तेयों में वाद-विवाद होता है, तब ये दोनों दूर रहते हैं। क्या व्यास ने इन्हें पाण्डवों की आन्तरिक हार्दिक एकता का प्रतीक बना कर ही तो अभिनव मूकता नहीं दी ?

तीनों कौन्तेयों के तीन रंग हैं। तीनों में युधिष्ठिर सवे व्यक्तित्व के साधु पुरुष हैं। अर्जुन को नायक बना कर भी व्यास ने उस की व्यक्तिरेखाओं को धूमिल रखा है; परीकथा के पारम्परिक रंगों के पुट दिये हैं। असली अर्थों में रँग कर प्रस्तुत किया गया है मात्र युधिष्ठिर को ही। उत्तम धनुर्धारी का चित्र बनाते ही अर्जुन का बाह्य रूप पूरा हो जाता है। युधिष्ठिर के साथ ऐसा कोई प्रतीक नहीं जुड़ा है। भीम और अर्जुन जब-जब उन पर ताना कसना चाहते हैं तो 'ब्राह्मण' कह देते हैं। फिर भी युधिष्ठिर ब्राह्मण नहीं हैं, ब्राह्मणत्व उन का विरुद नहीं है। युधिष्ठिर आखिर थे कौन ? वे ब्राह्मणों से बड़े ब्राह्मण थे; क्षत्रियों से अलग क्षत्रिय थे। वे और विदेह जनक सजातीय थे। जनक और बुद्ध की परम्परा में एक कड़ी थे युधिष्ठिर। युधिष्ठिर के वचनों को ध्यान से देखें तो हमें बुद्ध के विचार-तत्त्वों की सूक्ष्मता का पता चल जाता है।

युधिष्ठिर ज्येष्ठ पाण्डव थे। उन की ज्येष्ठता में ही व्यास ने धूप-छाँह का खेल बड़े शौक़ से रचा है। यह जेठा भाई नेता है, केवल इस अर्थ में कि भाई उस की

बात मानते हैं। परन्तु जब क्रियाशीलता का प्रश्न उठता है तो वह नेपथ्य में चला जाता है और वहाँ से भाइयों द्वारा क्रिया को सम्पन्न होते हुए देखता है। युधिष्ठिर स्वयं कभी सामने नहीं आते। क्रिया तो आख़िर समाप्त हो जाती है और जब उसे घेरने वाला उन्माद का अवसान हो जाता है तो शेष रह जाती है एक विचित्र शून्यता। इसी शून्यता में नये सिरे से चैतन्य को प्रवाहित करने, नवनूतन क्रिया के बीज को बोने, अपने प्रत्येक भाई की क्रियाशक्ति को परिपूर्णता देने का प्रयास सिर्फ़ युधिष्ठिर ही करते हैं। इसी लिए वे अन्य लोगों की अपेक्षा अपूर्णता को बहुत तेज़ी से और गहराई तक समझते हैं। युधिष्ठिर हर भाई की हर क्रिया के पीछे खड़े हैं; कभी प्रोत्साहित करते हैं, कभी विरोध करते हैं। युधिष्ठिर के कारण ही पाण्डवों का आन्तरिक संघर्ष, और एकता विशेषता पाते हैं। मुझे युधिष्ठिर के व्यक्तित्व में वह मौन किन्तु ज़बरदस्त चुनौती दिखाई पड़ती है जो चिन्तनशीलता द्वारा क्रियाशीलता को दी जाती है।

बचपन में पिता के जाते रहने के कारण इस पुत्र पर बहुत बड़ा भार आ पड़ा है। भाइयों के लिए वे वत्सल पिता हैं; स्वभावतः अत्यन्त मृदुल और चिन्ताकुल। ऐसा नहीं कि कौरवों के बचपन के आततायी व्यवहार का मुक़ाबला करने योग्य बल न हो उन में। परन्तु यह भी सही है कि तूतू-मैंमैं से वे हमेशा दूर भागते रहे। अंग-प्रत्यंग में अजातशत्रुता घुसी हुई और कैसी विडम्बना कि उन्हीं को जीवन भर शत्रुता से लड़ना पड़ा। बाल्यकाल के कष्टों ने भीम और अर्जुन को बहुत सताया था; युधिष्ठिर का हृदय फिर भी नित्य नया पोषक-तत्त्व ग्रहण करता रहा। भीम कौरवों को सता-सता कर अपना बड़प्पन क़ायम रखने की कोशिश करता था; उसे युधिष्ठिर ने कभी नहीं रोका। प्रहार, प्रतिप्रहार, विषप्रयोगादि से भीम उत्साहित हुआ करता था। इस के साथ ही उस में आत्मविश्वास बढ़ा और कटुता भी आयी। अर्जुन के आत्मविश्वास को बढ़ाया एक आन्तरिक लगन ने : मैं संसार का बेजोड़ धनुर्धारी बनूँ!

युधिष्ठिर ने ऐसे साधनों की आवश्यकता अनुभव न की। उन की अन्तर्मुखता ने उन्हें सब प्रकार की अहंभावना से मुक्त रखा है। जितना तीव्र है भीम का आवेग और कटुता, जितनी उत्कट है अर्जुन की ईर्ष्या, उतनी ही तीव्रोत्कट है युधिष्ठिर की चिन्तनशील तन्मयता। बचपन से ले कर प्रौढ़ायु तक अपने सिद्धान्तों को बार-बार कसौटी पर कसने के प्रसंग उन के जीवन में इतनी बार आये कि उन्हें कसौटियों का पर्याप्त अभ्यास हो गया। आगे चल कर अभ्यास के साथ कौशल भी आया। और जब अन्त में युद्ध के अवसर पर कौशल का शिल्प जाता रहा, कसौटियों का मूल्य खो गया, तब भी युधिष्ठिर की मनोभावनाओं की धार गिरी नहीं,—जैसा भीष्म के सम्बन्ध में हुआ। दुख का वरदान माँगने वाली कुन्ती के इस बेटे ने अपने हृदय की मृदुलता को विलुप्त न होने दिया। वह आदर्श की सतत उपासना करता रहा; परन्तु उसे जड़ देवता न माना। युधिष्ठिर में कठोर संयम और दुर्निवार कोमलता का,

जागृति की यथोचित चेतना और बेजोड़ स्वप्निलता का सुन्दर समन्वय मिलता है। बल्कि, यों कहें कि उन में मनुष्य के सर्वसाधारण गुणों का समन्वय भी इस विलक्षणता से हुआ है, और गुणों का परिपाक भी इतने दोषों से भरा है कि वे अन्य पाण्डवों की भांति साफ़-साफ़ दोषी दिखाई पड़ते हैं। जुआरी, पत्नी को दावँ पर लगाने वाला नादान जुआरी, अपमान का बदला लेना भूल कर हृदय से पिलपिला जीवन-दर्शन चिपटाने वाला मूढ़ क्षत्रिय, राजसभा में अपनी पत्नी की दुर्दशा को एक बार नहीं, दो-दो बार चुपचाप सह लेने वाला सत्त्वहीन पति, कृतघ्न और झूठा शिष्य—महाभारत में कौन ऐसा पुरुष है जिस का ललाट इन से अधिक और बड़े लांछनों से चर्चित है !

आख़िर इस मनुष्य की चिन्तनशीलता का क्या महत्त्व है ? क्या उस के मुख से निकला जीवन-दर्शन मिथ्या नहीं है ? बहलावा नहीं है ? क्या वह अपने को और दूसरों को धोखा नहीं दे रहा है ? स्वर्ग का द्वार सिर्फ़ इसी मनुष्य के लिए खुला था—यह दिखा कर क्या व्यास ने अनेक तत्त्वों से, मूल्यों से समझौता नहीं किया ? युधिष्ठिर की जीवन-लीला के सम्बन्ध में नाना प्रश्न उपस्थित होते हैं। इस दूसरे कौन्तेय में सैंकड़ों दरारें साफ़ दिखाई पड़ती हैं; लेकिन निश्चित विरोधों को जोड़ कर व्यास ने विसंगतियों के बीच अत्यन्त जीवन्त और कलापूर्ण व्यक्तिरेखा का निर्माण किया है। युधिष्ठिर प्रियदर्शन हैं : गोरे-चिट्टे, लम्बे, सुगढ़ मांसपेशियाँ, विशाल वक्षःस्थल जो अनन्त व्यथाओं को समेट लेता है। युधिष्ठिर साँस के साथ वेदना पीने की कला में पारंगत हैं। ख़ूब देर तक, दम घुटने तक साँस पी लेते हैं। वेदना को अन्य अन्तर्भावनाओं तथा संवेदनाओं के साथ तोलने का तो जैसे उन्हें रोग लग गया है। अपने भरे-पूरे सीने में उन्होंने प्रहारमय जयिष्णुता का क्षात्रबल संवर्धित किया है; वह भी एक सीमा तक। परिमाण-बोध ने उन्हें कई बार जीना मुहाल कर दिया है; अन्य लोगों की तो वह गत बनी कि जीने के नाम रोना अच्छा लगा !

युधिष्ठिर ने अपने को ज़िच में डाल दिया था, वह बेमानी नहीं था। एक महानतर विश्व का जो आकर्षण उन की नस-नस में भरा था, वह स्वयं उन के लिए अज्ञात था। वह विश्व न आँखों को दिखाई देता था, न बुद्धि की पकड़ में आता था, न इन्द्रियों के अनुभव में समा पाता था—एक दूरस्थित श्रेय था जो उन्हें भीतर ही भीतर स्पन्दित कर रहा था। सम्भ्रमित कर रहा था। स्फुरण दे रहा था। युधिष्ठिर जीवन के अन्त होने तक स्वयं नहीं बता पाये कि वह श्रेय क्या है। वे आजीवन उस को तलाशते रहे; अनाम मार्ग के बटोही बने रहे—और जब श्रेय की उपलब्धि का क्षण आता है तो स्वर्ग का द्वार पूरा खुल जाता है और युधिष्ठिर के प्रवेश करते ही बन्द हो जाता है। श्रेय की प्राप्ति कर रहे हैं युधिष्ठिर और संसार से पीठ फेर कर खड़े हैं और हमारे सामने होता है स्वर्ग का द्वार। उस अति विशाल द्वार में से हो कर यह इत्ता सा जीव एक कुत्ते को साथ ले कर भीतर जाता है।

जीवन भर चार जनों में रह कर भी युधिष्ठिर एकाकी रहे। थे अजातशत्रु लेकिन अन्तर अज्ञात की खोज की प्रेरणा के फलस्वरूप एकान्त-सेवन ही करते रहे। उन का एकाकीपन दुर्बल नहीं था; वह अभंग था; परन्तु स्वर्ग के महाद्वार में खड़े हो कर भी उन्होंने कुत्ते का साथ न छोड़ा। उन के इसी अत्याग्रह में उन का श्रेय निहित था। जिस ने अपना जीवन संसार के सामने सिर झुका कर बिताया, जिस ने दुनिया भर के अभियोगों को मौन भाव से पी लिया, वह निरहंकारी पाण्डव पहली बार सीना तान कर सिर ऊँचा कर अनन्त की गोद में समा गया। कुत्ते की निष्ठा के समान मेरी निष्ठा भी अटल है, अटल रहनी चाहिए और यह बोध सदा जीवित रहे—इस अमर मानव ने हम मर्त्य जनों को यही धूमिल सन्देश दिया है।

युधिष्ठिर के अन्तिम अन्तर्धान में ही उन के अस्तित्व का रहस्य छिपा है। सदेह स्वर्गलाभ एक विशेष प्रकार की मृत्युहीनता का प्रतीक है। कौरवों ने जो सुख मर कर पाया, उस का सदेह उपभोग कर पाना गौरव का उदाहरण है। स्थूल मानचिह्न है। व्यास ने स्थूलता के परदे के भीतर मनुष्यता से लगातार जुड़े एक सुखमय, मग्न और छोटे से चिर अस्तित्व के नाट्य की मात्र सूचना दी है, और चुप हो गये हैं। मुझे नहीं मंज़ूर कि मृत्युहीनता युधिष्ठिर को प्राप्त एक वरदान है। यदि वरदान होता तो न इतना स्थूल होता, न स्थूल बना रहता। व्यास ने कई-कई सुन्दर-असुन्दर चित्र मृत्यु के दिये हैं। श्रीकृष्ण के अवतारावसान की कहानी उन्होंने संक्षेप में सुना दी है। पाण्डवों के मरण का इतिवृत्त भी थोड़े में और न्यायनिर्मम भाष्य के साथ रूखी भाषा में कह दिया है। अपराधी और विवश धृतराष्ट्र के मरण को तपस्या के आवरण में लपेट दिया है। कर्ण के मरण को हिमालय की भव्यता से अंकित किया है। उत्तरा के मरे बच्चे के प्रसव की घटना दिखा कर मसली हुई कली की शोककथा की गहरी और सुकोमल वेदना और ग्लानि का निवेदन भी किया है। युद्ध में युधिष्ठिर मृत्यु से बराबर बचते रहे और दैव ने उन्हें अमरता दी। युधिष्ठिर की मृत्यु दिखा कर व्यास एक अति-मोहक मृत्यु-वलय सहज बना सकते थे लेकिन उस मोह से वे अपने को बचा ले गये। क्यों? क्यों उन्होंने आत्मा की अमरता और शरीर की नश्वरता के दर्शन को इस सूक्ष्म संवेदनाक्षम पाण्डव के सन्दर्भ में अनदेखा कर दिया? मुझे ऐसा लगता है कि व्यास के सारे जीवन-दर्शन की कसौटी है मनुष्य। जिस प्रकार उस की महानता जीवन में दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार मृत्यु में उस के व्यक्तित्व का सार भरा होता है। व्यास की दृष्टि में इस मानदण्ड वाले मनुष्य की आकृति बहुत छोटी होती है। वह मनुष्य कायर होता है, नहीं भी होता है। निर्मम होता है और नहीं भी होता है। उस की दुर्बलता सुन्दर होती है। सामर्थ्य कुरूप। उस की वाणी में तथ्य नहीं होता। उस की निस्तब्धता अर्थवान् होती है। यह मनुष्य जो ग़लतियों पर ग़लतियाँ करता है, स्वप्नों को छोड़ कर नहीं जी सकता। जैसा स्वप्न, वैसी नियति; जिस-तिस की। और कितना ही विशाल स्वप्न क्यों न हो, चाहे कितनी ही विस्मयजनक सिद्धि क्यों न हो, सब

मनुष्य आखिर एक ही पाँत में आते हैं। मृत्यु का अन्त अमरता में है, सिर्फ़ यही दिखाने के लिए व्यास ने युधिष्ठिर को अमरता दी है। उन्हें दूसरों से श्रेष्ठ और महान् नहीं बनाया है। अगर युधिष्ठिर मृत्यु प्राप्त करते तो कारुण्य का कैसा विशाल वलय उन के पीछे रहता! मनुष्य मरण के क्षण में ही करुणा के अर्घ्यदान का अधिकारी होता है। जिसे करुणा का अर्घ्यदान प्राप्त नहीं होता, उस का जीवन अधूरा रह जाता है। शेष पाण्डव जाते रहे, द्रौपदी गिर पड़ी और युधिष्ठिर शान्त बने रहे। अटल अमरता की निर्ममता का ज्ञान वे पहले ही पा चुके थे; सारे पाण्डव पा चुके थे; लेकिन वे अपने अधूरेपन से छुटकारा नहीं पा सके थे। सतत साधना के फलस्वरूप अकेले युधिष्ठिर न्यूनता से मुक्त रहे और अमरता को ढोते रहे। उन्होंने नरक लोक की हवा खायी और वे बाहर आ सके। रणभूमि से भाग कर आये इस पार्थ को व्यास ने मौत के अखाड़े से तो निकाल दिया, लेकिन नरकवास का अनुभव पाने को विवश किया है। उन की महानता को तहस-नहस कर दिया है। न होता कुत्ता तो कोई जान तक न पाता कि युधिष्ठिर के हृदय में करुणा का सागर हिलोरें ले रहा है।

युधिष्ठिर की अन्तिम स्थिति के रूखेपन और दुर्योधन के मरण-प्रसंग में युधिष्ठिर के दुःखावेग के बीच व्यास ने बड़ी कुशलता से विरोध दिखाया है। विरोध था, इसी लिए तो युधिष्ठिर मनुष्य थे; अच्छे मनुष्य, मगर अन्य जनों में से एक—कदाचित् वैसे ही अनाम। यही कारण है कि हम अर्जुन को भूल जाते हैं, भीम को भूल जाते हैं; पर, युधिष्ठिर को किसी तरह भूल नहीं पाते। क्यों युधिष्ठिर दुर्योधन की मौत के समय दुखावेग को रोक न पाये और क्यों भीम के प्रति उन का हृदय घृणा से भर गया?—इस का मर्म हम तभी जान सकते हैं, जब आरम्भ से उन की भूमिका का निरीक्षण करें; क्योंकि वही तो उन के आन्तरिक संघर्ष का प्रतिबिम्ब है।

वनवास-प्रसंग में द्रौपदी ने युधिष्ठिर की खूब खबर ली। भीम और अर्जुन भी चुप न रहे। युधिष्ठिर ने द्रौपदी को क्षमा का महत्त्व समझाया और उसे उस क्षण तो निरुत्तर कर दिया। भाइयों से अवश्य कहा, "द्यूत खेलते समय तुम लोगों ने कुछ न कहा। अगर मैं जीत जाता तो तुम कुछ न कहते। हार गया हूँ तो तुम लोग मुझे मूर्ख, जुआरी कहते हो। यह ठीक नहीं। इस समय हम लोग बिलकुल दरिद्री हैं; विरोध किस बल पर करें? उचित यह है कि हम सिद्धियाँ प्राप्त करें। अर्जुन को पाशुपतास्त्र प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।"

व्यास बुड़बुड़ाते हैं, "अधिक समय तक एकत्र रहना सुख नहीं देता। प्रेम बढ़ता नहीं, घट जाता है।" व्यास का वचन उस पल युधिष्ठिर को सच्चे उपाय जैसा जान पड़ा। गहरी सूझ-बूझ दिखाते हुए उन्होंने अर्जुन के लिए पराक्रम का मार्ग खोल दिया। वनवास की अवधि समाप्त होने तक भीम को द्रौपदी की देख-भाल करने का आदेश दे कर उसे आत्मगौरव का सुख दिया। अर्जुन का वियोग पाण्डवों की आकांक्षाओं के और स्नेह के लिए संजीवनी शक्ति सिद्ध हुआ।

कर्ण की दिव्य वीरता को देख कर युधिष्ठिर अतिशय लज्जित और व्यथित हुए। अर्जुन पर जो विश्वास था, वह जाता रहा। अपने क्षमा के दर्शन को तो वे भूल ही गये; यही नहीं, संयम तक खो बैठे। यह सोच कर कि इस स्थिति में अपनी रक्षा तभी हो सकती है, जब अर्जुन उत्तेजित हो कर कुछ चमत्कार कर दिखायेगा, वे बोले, "कर्ण मर जायेगा तो बारह वर्षों की व्याधि से छुटकारा मिलेगा। कर्ण तो जैसे भूत बन कर मेरे सिर पर सवार है। जहाँ देखता हूँ, वही दिखाई पड़ता है। नींद हराम हो गयी है। अर्जुन, तुम्हें याद है न, द्रौपदी को लक्ष्य कर कर्ण ने क्या कहा था। तुम उस का वध करो। द्वैतवन में तुम ने उस का वध करने की प्रतिज्ञा की थी, याद है? भीम कर्ण से डरता है। अगर तुम उसे नहीं मार पाते तो व्यर्थ है तुम्हारा गाण्डीव, पराक्रम बाण और रथ—जो भी तुम्हारा है, उस का धिक्कार करता हूँ।"

अर्जुन यह वाक्ताड़न नहीं सह पाया। कर्ण ने युधिष्ठिर को पहले ही भड़काया था यह कह कर कि "युधिष्ठिर, तुम ब्राह्मधर्म में प्रवीण हो। यज्ञकर्म, स्वाध्याय में प्रवीण हो। तुम वीरों से मुक़ाबला करने का विचार त्याग दो; वहाँ जाओ जहाँ कृष्ण और अर्जुन हैं।"

अर्जुन ने भी यही लीक पकड़ ली। उस ने कहा, "कृष्ण, देखा इसे? मैं तुम्हारे सामने पहले इसी की गरदन उड़ाता हूँ। इसे मार कर ही मेरी प्रतिज्ञा पूरी होगी।"

इस पर कृष्ण बोले, "यह प्राकृत वचन तुम्हें शोभा नहीं देता, अर्जुन।" फिर भी अर्जुन का क्रोध ठण्डा न हुआ; वह युधिष्ठिर की ओर मुड़ कर बोला, "चुप रहो तुम! रणभूमि से भागने के बहाने खोजा करते हो। भीम कह सकता है, क्रोध कर सकता है, दोष दे सकता है, क्योंकि वह महान् योद्धाओं से जूझता है, साहस का काम करता है। तुम से कुछ नहीं होता। अगर भीम कहता है तो वह उस को शोभा देता है। अगर मुझ पर किसी को दोषारोपण करने का अधिकार है तो वह केवल भीम है। तुम बढ़-बढ़ कर बातें करने में चतुर हो, व्यवहार में निष्ठुर हो। ब्राह्मण की शक्ति उस की वाणी में रहती है; तुम भी ऐसे ही हो। ऐसे बक रहे हो जैसे मैं दुर्बल होऊँ, कायर होऊँ। पाप तुम ने किया और हम से कहते हो, फल भोगो। तुम ने क्यों जुआ खेला? पाप तुम्हीं ने किया। वही हमें बरबाद कर रहा है। फिर भी मैं आप की रक्षा करूँगा। आप द्यूतकार हैं। आप के कारण राज्य चौपट हो गया। हमें संकटों ने घेर लिया है। मुझे कटु बातें सुना कर जी न जलाइए मेरा। मैं क्रोध रोक न पाऊँगा।"

कुछ समय बाद अर्जुन को पश्चात्ताप हुआ; कृष्ण के पास जा कर अर्जुन ने कहा, "मुझ से बड़ा अपराध हुआ। मुझे मर जाने दो। मैं आत्महत्या करूँगा।"

कृष्ण ने धूर्ततापूर्वक कहा, "बन्धुहत्या से आत्महत्या का पाप बड़ा कहा गया है, आत्महत्या अपराध है।"

इस के बाद अर्जुन ने भाई का कभी अपमान नहीं किया। अश्वमेध से पहले दोनों भाइयों में फिर एक बार तगड़ी बहस हुई, परन्तु वह दार्शनिक थी।

अर्जुन ने पश्चात्ताप किया और क्षमा-याचना की। युधिष्ठिर भी पश्चात्ताप की आग में जल रहे थे। ईर्ष्यारहित और जन्म से दीन भाव धारण करने वाला वह पाण्डव और भी दीन हो उठा, और बोला, "अर्जुन, जो मैं ने किया, वह उचित नहीं था। तुम सब को मैं ने संकट के सागर में धकेल दिया है। तुम मेरा सिर उड़ा दो। मैं पापी हूँ। बुरे व्यसनों में डूबा हुआ हूँ। कायर हूँ, मूर्ख हूँ। क्यों मेरा अनुसरण करते हो? मैं वन में जाऊँगा। मेरे न रहने से ही तुम्हारा कल्याण होगा। मैं क्लीब हूँ। भीम अच्छा राजा है। मुझ से अब नहीं सहा जाता, अर्जुन, मैं क्या करूँ? तुम ने तक मुझे खूब चुभती बातें कही हैं; अब रहा ही क्या? मैं अब जीना नहीं चाहता; मेरा जीवन निरर्थक है।" यह कह कर युधिष्ठिर जो बिछौने पर बैठे थे, उठे और चल दिये।

द्यूत-प्रसंग में भीम ने युधिष्ठिर से कहा था, "तुम्हारा हाथ तोड़ता हूँ!" लेकिन युधिष्ठिर पर कोई असर न हुआ। अर्जुन की तीखी बातें भूलते न बनती थीं। युधिष्ठिर का यह आचरण सब में विस्मय भर रहा था। तब कृष्ण ने कहा, "आप दोनों को एकत्र रहना है, वही उचित होगा। अर्जुन ने आप का अपमान किया है, मेरे बहकावे में आ कर। ज्येष्ठ जनों का अपमान करना हत्या करने के समान है। मुझे क्षमा करें। मैं कहता हूँ, कर्ण कल न रहेगा।"

और कृष्ण ने युधिष्ठिर के चरण पकड़ लिये। अब उन के लिए लौटने को छोड़ कर कोई रास्ता न था। वे मुड़े और अर्जुन को सीने से लगा कर सिसकने लगे; अर्जुन की स्थिति उन से अलग न थी।

दुर्योधन धरती पर गिरा तब भीम ने उस पर लत्ता-प्रहार किया। यह दृश्य देख कर युधिष्ठिर का सिर शर्म से झुक गया। भीम ने दुःशासन को मार डाला था और उस का हृदय उखाड़ कर रक्त पीने लगा था, बोला, "यह रक्त दूध से मीठा है, मधु से मधुर है।" बीभत्सता को देख कर सब घृणा से भर उठे थे; किन्तु युधिष्ठिर से जो उस बार चुप थे, यह न सहा गया। वे बोले, "यह क्या करते हो, भीम? उसे लात मत मारो। धर्म का उल्लंघन मत करो। वह हमारा सम्बन्धी है, राजा है।" इतना कह कर वे चुप न रहे। दुर्योधन के पास बैठ गये और आर्द्र कण्ठ से बोले, "भाई, तुम शोक मत करो। तुम ने अपराधों का फल पाया है, इसलिए तुम्हारी मृत्यु भी दिव्य है। दुर्योधन, हमें देखो; हम तुम से भी दीन हैं, हीन हैं। हमारे सब सम्बन्धी जाते रहे। हमारा जीवन दरिद्री है। कैसे यह काला मुँह दिखाऊँगा बेटियों-बहुओं को? कैसे देख पाऊँगा उन के रीते ललाट वाले मुखों को? तुम तो स्वर्ग चले जाओगे; हमें यहीं, इसी नरक में रहना है और आँसू बहाना है।"

यह घटना यहीं समाप्त नहीं हो जाती। गदायुद्ध के नियम के अनुसार कटि के नीचे प्रहार करना वर्जित है। भीम ने इस नियम का जो उल्लंघन किया था उस के कारण बलराम सन्तप्त हो उठे। कृष्ण ने उन्हें भीम की राजसभा वाली प्रतिज्ञा का कि दुर्योधन की जाँघें चीर कर ही शान्त हूँगा, स्मरण दिलाया। परन्तु,

बलराम ने नहीं माना। "कपट आखिर कपट ही है," कह कर वे उठे और तीर्थयात्रा को चल दिये। अब कृष्ण भी अपने को रोक न पाये; चिढ़ कर युधिष्ठिर से कहने लगे, "आप ने कैसे भीम को लात मारने दी?"

बेचारे युधिष्ठिर! लाचार हो कर बोले, "कृष्ण, मुझे वह बिलकुल अच्छा नहीं लगा। भीम ने वनवास के समय जो कहा था, उसे मैं भूल न पाया, वह मुझे लगातार कुरेद रहा था। इसी लिए उपेक्षा की। मैं मूढ़ था। मैं ने इतना ही सोचा कि धर्म हो, चाहे अधर्म; दुर्योधन मूर्ख था, लोभी था, उसे मार कर भीम सन्तुष्ट होगा, तो हो ले!"

इस भयानक नाट्य-प्रसंग का समापन व्यास ने ऐसे किया है कि रोंगटे खड़े हो जाते हैं। दुर्योधन धरती पर पड़ा है, चारों ओर से राजा घेर कर खड़े हैं और यह वाद-विवाद वहीं हो रहा है। कृष्ण अचानक कहते हैं, "चलो सब लोग। इसे यहीं पड़ा रहने दो। यह अधम है, पापी है। कहता था, पाण्डवों को सूई की नोक-बराबर तक धरती नहीं दूँगा। मरने दो इसे। यह न शत्रु कहलाने योग्य है, न मित्र।"

अपनी शारीरिक व्यथा भूल कर दुर्योधन उस हालत में भी लाल-पीला हो कर, दोनों हाथों पर बल दे कर, पूँछ कुचले साँप की तरह गरदन उठा फुफकार उठा, "ओ रे कंस के दुआरे के मँगने! तू ने ही मुझ पर कमर के नीचे मारने की सलाह दी। निर्लज्ज है तू! मैं तुझे याद दिलाऊँ भूरिश्रवा की, द्रोण, कर्ण, भीष्म की? सीधे तरीक़े से लड़ते तो जीतने वाले नहीं थे तुम लोग। मैं तो खैर, स्वर्ग की ओर प्रस्थान कर रहा हूँ। तुम रहो यहीं और भग्न-हृदय हो बहाओ आँसू!"

उस का इतना कहना था कि कृष्ण और पाण्डवों के मुख पर कालिमा छा गयी। कृष्ण कहते हैं, "बिना छल-कपट के यह मरने वाला नहीं था। तुम विजय चाहते थे न?"

युधिष्ठिर को चिन्ता इस बात की सता रही थी कि गान्धारी को क्या मुँह दिखायेंगे। आखिरकार वह उत्तरदायित्व कृष्ण ने निभाया। लेकिन उसी दिन से युधिष्ठिर की नींद उड़ गयी। वे दुख के सागर में डूब गये, बेचैन रहने लगे। युद्ध के तमाम तमाशों में भाग ले कर युधिष्ठिर ने जैसी विकलता अनुभव की, वैसी किसी अन्य ने नहीं की। एक तो शुरू से ही वे युद्ध से घृणा करते थे; यही कोशिश करते थे कि जितनी देर तक टाल सकें, टालें। कृष्ण के दुर्योधन को समझाने से पहले वे कृष्ण से कहते हैं, "दो व्यक्ति एक-दूसरे से लड़ते हैं; उन में से एक की मृत्यु का अर्थ दूसरे की विजय नहीं है। युद्ध में ऐसा है ही क्या जो अच्छा है?" दिख पड़ता है युधिष्ठिर को कि समूचा जीवन ही एक महायुद्ध है। वे कह उठते हैं, "ब्राह्मण के हाथ में रीती थाली है; क्षत्रिय हत्या कर के पेट भरता है और शूद्र सेवा करते-करते कूच कर देता है। वैश्य को नोन-तेल बेच कर जीना पड़ता है। कुत्ता कुत्ते को, मछली मछली को और क्षत्रिय क्षत्रिय को मारते हैं। वीर दुर्बल को मारता है। असफल व्यक्ति सफल को

मार डालता है। पराजय तो मरण से भी बुरी चीज है। विजय भी अर्थहीन है। अगर अपनों में से कोई जीवित न रहे तो सुख ले कर भी क्या होगा? वैर वैर से नहीं थमता। शान्ति से बड़ा सुख नहीं हो सकता।"

युधिष्ठिर का यह चिन्तन ऐसे लुप्त हो गया जैसे जल को सिकता ने सोख लिया हो।

कर्ण के जन्म का रहस्य मालूम हो जाने के बाद युधिष्ठिर का हृदय विरक्ति से भर उठा। इतनी अशान्ति कि वर्णन नहीं की जा सकती। अपने अज्ञान से युधिष्ठिर स्वयं विस्मित हो उठे। हमेशा यही होता था। इस वार संयम तक जाता रहा। जब कृष्ण दुर्योधन को शिष्टता सिखाने के लिए चले, तो युधिष्ठिर ने कुन्ती को लक्ष्य कर कहा, "तुम धृतराष्ट्र के घर जा रहे हो तो हमारी माता से मिलना। वह अत्यन्त वत्सल माता है। बचपन से बेचारी ससुराल वालों के दुखों को ही देखती आयी है। उस ने हमें दुर्योधन से बचाया; बहुत सहा है, बहुत, बेचारी ने।" ऐसा दयालु आर्द्रहृदय बेटा जब आपे से बाहर हो जाता है तो अपनी माता को अभिशाप देता है। कर्ण के विषय में युधिष्ठिर का आकर्षण दुबिधा का शिकार हो जाता है। एक ओर तीव्र भय है और कर्ण के कारनामों के कारण द्वेषभाव है, दूसरी ओर गहरा लगाव है। युधिष्ठिर जब-जब कर्ण का मुँह देख लेते थे, आनन्द से भर जाते थे।

कर्ण और कुन्ती के चरणों की समानता जाने कब युधिष्ठिर के ध्यान में आ चुकी थी। वह समानता और कर्ण का मुख—युधिष्ठिर इतनी शान्ति अनुभव करते थे कि द्रौपदी की दुर्दशा के समय भी वे शान्त रह सके। उन का मन उन्हें लगातार सालता रहा : क्यों नहीं मैं ने समानता का गहराई से पता लगाया? क्यों बन्धुहत्या का पाप सिर लिया? यह दुख अन्य सभी दुखों से बड़ा था। वे प्रवंचित कर्ण के इर्द-गिर्द चक्कर काटते रहे।

एक बार इच्छा हुई कि राज्य त्याग कर जंगल में चले जायें और तपस्या करें। यह सुन कर अर्जुन ने उन्हें फटकारा, "इतना विशाल साम्राज्य जीता है हम ने, आप उसे त्याग देने को कहते हैं! इस का क्या अर्थ? भीख माँगने का कटोरा ले कर घूमना शुरू कर देंगे तो लोग क्या कहेंगे?"

अर्जुन का समर्थन करने के इरादे से भीम ने कहा, "साम्राज्य को तिलांजलि दे कर भीख माँगें? अरे, अर्थ ही तो क्षत्रिय का धर्म है!" द्रौपदी भी उस के साथ हो लेती है।

अर्जुन दुबारा कहता है, भूल जाइए द्रौपदी का भरी राजसभा में हुआ अपमान, वनवास, कीचक का लत्ता-प्रहार—सब भूल जाइए। युद्ध सिर्फ़ युद्ध है; युद्ध में न कोई मित्र होता है, न शत्रु। युद्ध सिर्फ़ लड़ने की माँग करता है और हमें मन लगा कर, प्राणपण से लड़ना होता है। मत शोक कीजिए द्रोण और भीष्म की याद में। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो आनन्दोत्सव में सिसकियाँ भरते हैं और कुछ ऐसे भी

होते हैं जो दुख में रहते हुए भी सुख की स्मृतियाँ जगा कर आनन्द पाते हैं । भाई, आप याद कीजिए उसे जो अच्छा है, जो दुख से बड़ा है, शक्तिशाली है । जाने कैसा है आप का स्वभाव कि आप क्या-क्या तो सोचते रहते हैं और अपने को कोसा करते हैं ।''

युधिष्ठिर का उत्तर था, ''सब कुछ निर्भर करता है इस पर कि हम क्या मानते हैं । जनक को ही देखो । वे कहा करते थे कि मेरे पास कानी कौड़ी नहीं है, फिर भी मैं अनन्त कोटि सम्पत्ति का स्वामी हूँ । जल कर भस्म हो जाये चाहे मिथिला नगरी, मेरा क्या जाता है ?''

अर्जुन परीकथा का स्वप्निल नवयुवक तो रह नहीं गया था; खुरदुरे अनुभवों ने उसे प्रौढ़ व्यावहारिक पुरुष बना दिया था । साम्राज्य मिल गया था; पर, कहाँ था धन ? वह इसी चिन्ता में डूबा रहता था कि धन कहाँ से आये; धन कहीं से लायें तब न साम्राज्य का रथ चले ! और धन लाने की उमंग तभी पैदा होती, जब युधिष्ठिर सिंहासन पर विराजमान होते । इसलिए वह चिढ़ कर बोला,''मूर्ख था जनक ! सिंहासन छोड़ कर भीख माँगने चला, तब जानते हैं, उस की पत्नी ने क्या कहा था ? उस ने कहा था : 'तुम जो धन-वैभव को लात मार कर जा रहे हो, कुत्ते जैसे दिखाई पड़ते हो । जो प्रजा तुम पर अवलम्बित है, वह कहाँ जायेगी ? कौन सा श्रेय पाओगे तुम ?' भले ही विख्यात हो जनक दार्शनिक के रूप में, पर वह भी मतिमन्द था, मूढ़ था । प्रजापालन करना ही पड़ता है; देवता, अतिथि और जीवधारियों का पूजन करना ही चाहिए ।''

किन्तु युधिष्ठिर टस से मस न हुए । युधिष्ठिर, यों भी, अपना संकल्प त्याग देने वालों में नहीं थे और न कभी अपने गुणों की प्रशंसा ही करते थे । इस बार वे बड़प्पन जताते हुए बोले, ''मैं ने शास्त्रों का अध्ययन किया है, वेद, धर्म सब जानता हूँ । तुम ने सिर्फ़ शस्त्रविद्या सीखी है; तुम शास्त्रों का अर्थ क्या जानो ! धर्म का सूक्ष्म स्वरूप तुम समझ ही नहीं सकते । तुम ने वृद्ध जनों की सेवा नहीं की, तुम सिर्फ़ युद्ध करना जानते हो । तुम्हारा यह खयाल ग़लत है कि धन सब से बड़ी वस्तु है । सब से बड़ी है तपस्या ! ऋषि-मुनियों ने तपस्या द्वारा ही सुगति पायी है; तपस्या बहुत कुछ देती है । बुद्धि के बल पर महान् श्रेय प्राप्त होता है; त्याग ही सुख है ।''

और अर्जुन चुप हो रहा । परन्तु देवस्थान ऋषि और व्यास ने अर्जुन का समर्थन कर मध्यमार्ग ढूँढ़ लिया; ''धर्मपूर्वक साम्राज्य पाया है, उसे त्याग देना अनुचित है । यज्ञ हो जाने दो, धन सार्थक होगा ।''

युधिष्ठिर के हृदय के एकान्त में दुख की घटाएँ उठीं; वे बोले, ''हम ने अपने बेटों को खोया, हमारी बहुएँ निपूती हैं, शोक थमते नहीं थमता, साम्राज्य में मेरा मन नहीं लगता ।''

व्यास ने युधिष्ठिर को समझा कर कहा, ''सुख हो या दुख, जो मिल रहा है

उसे लेना होगा। हमेशा सुख नहीं मिलता। दुख भी हमेशा नहीं रहता। हृदय को अपराजेय बना कर, जो सामने दिखाई पड़े, उसे ग्रहण करो। सहवास की समाप्ति वियोग में होती है; शोक करना बेकार है।"

कृष्ण ने समझाया और व्यास ने राजधर्म का प्रवचन किया। युधिष्ठिर का हृदय शान्तिलाभ करता है और स्वयं युधिष्ठिर वन में जाने का हठ छोड़ कर हस्तिनापुर में प्रवेश करते हैं।

इस घटना के पश्चात् युधिष्ठिर ने अनेक वर्षों तक राज्य किया। व्यास ने उन के राज्य-काल की कहानी नहीं सुनायी है। कदाचित् युद्ध-स्थिति के युधिष्ठिर के मानसिक आन्दोलन बाद वाली कहानी में न हों; अगर हों भी तो व्यास को आगामी चित्र अप्रासंगिक मालूम पड़े हों—आखिर व्यास भी तो युद्ध की गाथा लिखने बैठे थे। सुख और समृद्धि में एकरसता पायी जाती है। जो संघर्ष में खिलता है वह संघर्षरहित जीवन को क्यों महत्त्व देने चला है ? उस ने एकदम जो प्रसंग उठाया है वह मृत्यु का अन्तिम संघर्ष है। वहाँ व्यास ने शान्तिकामी, संघर्षरहित युधिष्ठिर को ही अन्तिम निष्क्रिय शान्ति का प्रतीक बना कर उन्हें शून्य में शब्दशः बिखेर दिया है। युधिष्ठिर का पार्थिव जीवन समाप्त हो गया, मृत्यु समाप्त हो गयी--मात्र उन के कल्याणप्रद संकल्प को स्वर्ग की मंजूषा में रख दिया है, कहीं वही उड़ न जाये।

युधिष्ठिर ने दान-धर्म किया, पुण्य का पीछा किया; सकाम हो कर नहीं किया। द्रौपदी से उन्होंने कहा था, "धर्माचरण करता हूँ मैं, परन्तु फल की इच्छा नहीं रखता।" उन्होंने विशिष्ट देवताओं या धर्म-सम्प्रदाय को अतिरिक्त महत्त्व नहीं दिया। वे द्रौपदी को कश्यप की क्षमागाथा सुनाते हैं। जनक के लिए उन में आकर्षण है; पर वे किसी एक भगवान् के भक्त नहीं थे। बुद्धि की प्रतिष्ठा वे भलीभाँति जानते थे और यह बान पड़ गयी थी कि खुद ही जीवन-विषयक विचार करें, सलाह औरों की लें। महाभारत में उन के समान निरवलम्ब बुद्धि का दूसरा उद्‌गाता नहीं मिलता। अपनी मान्यताओं की खातिर उन्होंने अपार कष्ट झेले। अपने निर्णयों की महानता के गीत अपने मुँह से नहीं गाये। शायद, वे सदा साशंक रहते थे, क्योंकि बुद्धिजीवी थे। असमंजस में पड़ जाते थे। एक ही प्रश्न का विचार दो प्रकार से कर सकते थे। इसी लिए वे अजातशत्रु थे और इसी लिए एकाकी थे। उच्चतम नीतिमत्ता उन का धर्म था। वैयक्तिक, पारिवारिक और सार्वजनिक नीतिमत्ता उन्होंने भीष्म के मुँह से सुनी थी। उन्होंने अध्यात्म के सिद्धान्तों की तोता-रटन्त नहीं की। न उपनिषदों के दर्शन की बाल की खाल निकाली। उन्होंने जान लिया था कि मनुष्य दैनन्दिन जीवन और विशिष्ट प्रसंग के अन्तर्गत जो आचरण करता है, वही सब जीवन-दर्शनों का मूलाधार है। मोक्ष के पीछे पागलों की तरह दौड़ना उन्होंने स्वीकृत नहीं किया। उन्होंने लगातार यही सोचा कि कैसे स्वकीय जनों को धर्म की राह पर ले जा कर सुखानुभूति दें। लगन थी उन में क्षमा की : प्रभुता और सत्ता की शोभा है क्षमा। दृढ़ता से और

निश्चयात्मक स्वर में क्षमा के गुणगीत गाने वाले—तब जब कि उपहास के ढेले मारे जा रहे हों—युधिष्ठिर अकेले व्यक्ति हैं । शायद ही कोई व्यक्ति हो जो शान्ति की ऐसी गहरी लगन रखता हो ।

क्या पता, नियति ने इस मृदुल अन्तःकरण के मनुष्य का युद्ध की कठोर कृति के लिए उपयोग क्यों किया ? इस में सन्देह नहीं कि अथ से ले कर इति तक युधिष्ठिर प्रबल महत्त्वाकांक्षा की बाढ़ में नहीं बहे । अपने को लचीला बना कर वे सतत शान्ति के मूलाधार की खोज में लगे रहे और पथिक की तरह अपनी ही सँकरी पगडण्डी पर बेरोक-टोक चलते रहे । आखिरी पगडण्डी बहुत सँकरी थी । सीधी चढ़ान थी । पत्नी गिर पड़ी, भाई छूट गये । रास्ते में एक कुत्ता साथ हो लिया था, वह बराबर चलता रहा । कुत्ते की आँख का कारुण्य युधिष्ठिर के प्राणों में बस गया । जब कारुण्य प्राणों में बस जाता है, तभी धर्म दर्शन देता है । स्वयमेव शान्ति रस चुआती है । शान्ति के इसी रस की घूँट पी कर वह पथिक मुक्त हो गया ।

जब आँसू खो जाते हैं

प्राचीन भारतीय साहित्य में जगह-जगह शतायुता के महन्मंगल स्तोत्र के स्वर सुनाई पड़ते हैं। वैदिक ऋषियों तक ने यह आकांक्षा की थी कि बुढ़ापे में उत्तम स्वास्थ्य-लाभ कर बेटी-बेटों, नाती-पोतों की फली-फूली गिरस्थी देखें। अगर महाभारत में उसी आकांक्षा का उत्तराधिकार दिख पड़ता है, तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु पुरातन साहित्य में उपलब्ध शतायुता का स्वप्न महाभारत के विराट् व्यावहारिक जगत् में पहले की तरह रंगीन, चिकना और आकृतिहीन नहीं रह गया है। व्यास ने मनुष्य की हर कामना को, हर अनुभव को, हर जीवनावस्था को अलग-अलग ढंग से गढ़ा है। एक बार गढ़ चुकने के वाद उन्होंने स्वयं तैयार किये हुए साँचे को अपने ही हाथों से भंग कर दिया है। यही कारण है कि महाभारत को गढ़न सार्वत्रिक है, कदाचित् विश्वव्यापी भी है, परन्तु वह कभी अपने केन्द्र से च्युत नहीं होती। महाभारत के व्यक्ति केवल व्यास-रचित वातावरण में ही अपनी आकृतियाँ, अपने परिमाण, और अपनी विशिष्टता धारण कर ज़िन्दा आदमियों की तरह घूमते दिखाई पड़ते हैं। आप उन्हें वहाँ से हटा कर व्यावहारिक आदर्श बना कर तो देखिए, वे कठपुतलियाँ बन जायेंगे : जड़ और निर्जीव।

व्यास ने वार्धक्य के जो आयाम दिखाये हैं, वे उन्हीं की बनायी लहलहाती तरुणाई से भी विशाल है। वार्धक्य का आयाम उन का अनुसन्धान नहीं है। उन्होंने उसे परम्परा की पोथी से लिया है। वार्धक्य का दूसरा नाम है परिपक्वता। वार्धक्य का अर्थ है मधुरता, अनुभवों की परिपूर्णता और अलिप्ततापूर्वक छोटे-बड़े काम करने का अपने भीतर सन्तुलन पैदा करना। जो मनुष्य उस पार की सीमा का चिन्तन कर सकता है, वही वार्धक्य के आभूषण को धारण कर सकता है। अतः उसे अन्तर्मुख और तटस्थ होना होगा। उस की निजी इच्छाएँ हो ही नहीं सकतीं। उस परिपक्व वृत्ति वाले मनुष्य में मंगलता का, सार्वत्रिक कल्याण का जबरदस्त भाव होता है। वह अपने को विसर्जित करने के लिए लालायित रहता है। एक ऐसे ही आदर्श वृद्ध की कल्पना द्रौपदी ने की थी। यदि वह सभा में उपस्थित नहीं रहता तो सभा का 'सभापन' समाप्त हो जाता है। इसलिए कि ऐसे वृद्ध जनों के पास अखण्ड सत्य की अमूल्य निधि रहा करती है। उन का सत्य करुणावृत्त होता है। वह हर प्रकार के

दम्भ से मुक्त रहता है, इसी लिए वह कायर नहीं होता।

कौन था ऐसा वृद्ध जिसे द्रौपदी ने अपने हृदय के भीतर आरेखित किया था, जिसे कौरवों की सभा में उच्च रव में पुकारा था? वह कहाँ था? पितामह भीष्म, गुरु द्रोण, जराजर्जर धृतराष्ट्र, विदुर—सभी तो वृद्ध थे। परन्तु जाने कहाँ विलुप्त हो गया था उन के अन्तर का शान्त भव्य भावधारी वृद्धत्व। भीष्म और विदुर बर्फ़ की सिल बन गये। अन्धे धृतराष्ट्र के मन में अवश्य प्रचण्ड विक्षोभ उठा। उन के वार्धक्य की यही विशेषता थी कि उन का हृदय हमेशा अशान्त रहता था। दुविधा में उलझा रहता। शंकाओं से ग्रस्त रहता था। और विडम्बना यह कि जब देखो तब धृतराष्ट्र को लड़ाई-झगड़े वाली घटनाएँ घेरे रहती थीं। वे ठहरे सम्राट्; निर्णय का भार उन्हीं पर। जब-जब स्वार्थ को बींधने का अवसर आता, धृतराष्ट्र की समबुद्धि काम न देती, और वे न्याय से बच कर, सत्य को टाल कर कुछ विचित्र काम कर जाते। जाने क्या तो बुड़बुड़ाते। कभी दीन हो जाते, कभी ईर्ष्या से कुढ़ते। कभी पश्चात्ताप की आग में जलते। कभी काँटा चुभता तो सोचते कि न्याय के राजमार्ग पर चलना चाहिए। जब-जब ऐसा होता तो विदुर को बुलाते और अपना हृदय खोल कर रख देते। धृतराष्ट्र भीष्म, द्रोण और विदुर की अपेक्षा अत्यन्त दुर्बल थे, इस में तनिक सन्देह नहीं। फिर भी जब सभा में द्रौपदी के आवाहन को सुन कर छोटे-बड़े कई लोग स्तम्भित हो गये, तब क्षण भर के लिए धृतराष्ट्र के रूप में वह आदर्श वृद्धत्व अवतीर्ण हुआ, जिसे द्रौपदी ने पहचाना था और जो प्रत्यक्षतः चिरस्वरूप में दिखाई नहीं दे रहा था। उसी आदर्श वृद्ध ने द्रौपदी को पतिसहित दासता से मुक्त किया—इस के पश्चात् धृतराष्ट्र दुबारा धृतराष्ट्र बन गये। वे अन्त तक ठोकरें खाते रहे, गोते खाते रहे, रोते-चिल्लाते रहे, अपने को कोसते और दूसरों को गालियाँ देते रहे। क्षणार्ध में सभा में शालीन विशाल वृद्धता भासमान हुई और देखते-देखते अन्तर्धान पा गयी। उस क्षणिक चमत्कार ने धृतराष्ट्र को ऊँचा धरातल नहीं दिया; न भीष्मादि को किसी प्रकार प्रेरित किया, न पाण्डवों को कोई आश्वासन ही दिया। इतना अवश्य हुआ कि सब लोगों ने सिर नीचा कर लिया। क्षुद्र, दुर्बल मनुष्यों के प्रति दया, तिलमिलाहट और सब ओर विफलता का बीज बोकर वह विलक्षण चमत्कार अदृश्य हो गया।

उस क्षण का, उस चमत्कार का दबदबा सब वयोवृद्धों पर बना रहा, अपने-अपने ढंग से उन्हें झकझोरता रहा, यह भी सत्य है। धृतराष्ट्र के मानसिक आन्दोलन तभी से फैले। गान्धारी के हृदय की व्यथा ने तो ऐसी तीव्रता पायी कि उसे चौबीसों घण्टे न्याय का स्फटिकवत् रूप दिखने लगा। भीष्म की भाँति उस ने भी पति से आग्रह किया कि आप अपने नीच और स्वार्थी पुत्र को निकाल दें। गान्धारी ने अपने पति से अत्यन्त सन्तुलित वाद-विवाद किया। वस्तुतः गान्धारी ही थी, जिस ने द्रौपदी के अन्याय का सच्चे अर्थों में परिमार्जन किया। माता ने बेटे से बग़ावत की। युद्ध के होम में बलि के पशु के रूप में चुने गये बेटों की माँ ने पहले भी राजनीति के

विरुद्ध एक प्रकार का विद्रोह किया था। अनुद्यूत के षड्यन्त्र को तोड़ने का इत्ता सा यश उस ने अवश्य पाया। गान्धारी परिपक्वता की दिशा में पग बढ़ा रही थी; धृतराष्ट्र बहुत पिछड़ गये थे। गान्धारी भीष्म-विदुरादि की बराबरी कर रही थी। इन लोगों के दुखों से भी एक बड़े दुख को पी कर वह न्याय से चिपटे रहने की पराकाष्ठा कर रही थी।

यह सब ठीक है; फिर भी हमारे सामने ये जो तमाम वृद्ध आते हैं, वे सब दुख के भार से झुके हुए हैं, सब की कमर टूट चुकी है। इन में अपवाद हैं सिर्फ़ भीष्म। महाभारत के वृद्धों को स्मरण करते ही सिर्फ़ एक चित्र उभरता है: भीष्म पितामह का। यद्यपि भीष्म ने आदर्श वृद्ध की कल्पना को पूर्णता से साकार नहीं किया, लेकिन वे छाँह की तरह उस के इर्द-गिर्द अवश्य मँडराते रहे। भीष्म: हट्टा-कट्टा शरीर; गहन गम्भीर मन जो समस्त स्मृतियों को अन्त तक सहेजे रहा; जो सब में रहे और तटस्थ रहे।

भीष्म कुरुवंश के सब से ज्येष्ठ पुरुष हैं। उन्हीं ने सब बच्चों को पाल-पोस कर नीति, कर्तव्य और कृतित्व के पाठ सिखाये। अगली तीन पीढ़ियों के लिए ही नहीं, बल्कि पिछली पीढ़ी की खातिर देह सुखाने वाले भीष्म अकेले व्यक्ति हैं। उन का व्यक्तित्व एक उदासीन व्यक्तित्व है, जो भीतर ही भीतर उफनता है और एक शान्त और भारी लवादा ऊपर से ओढ़ लेता है।

भीष्म जन्मतः प्रौढ़ थे। अष्टावक्र की तरह। पुरु की तरह। अष्टावक्र ने बन्दी के सामने डींग मारते हुए कहा था, "मुझे बच्चा मत कह! जिस के सिर के बाल पक जाते हैं, उसे स्थविर नहीं कहते। जो तरुण होते हुए भी पण्डित होता है, उसे देवता भी वृद्ध कहते हैं।" पुरु ने तो प्रकट रूप में पिता का बुढ़ापा माँग लिया था। वह बुढ़ापा अन्तर को विभूषित करने वाला वार्धक्य नहीं था, वह ऐसा बुढ़ापा था जिसे तरुणाई की मरणावस्था कहते हैं; जो कोई नहीं चाहता और जिस से सब दूर भागते हैं। उस बुढ़ापे में कामवासना की मृत्यु थी, सृजन और पराक्रम का विनाश था। भीष्म के रूप में व्यास ने उच्च और निम्न, दोनों अवस्थाओं का समन्वय कर दिया है। पिता की इच्छा पूरी करते समय भीष्म ने राज्य, विवाह सभी बातों को त्याग दिया; आगे कभी पश्चात्ताप न किया। उन्होंने शारीरिक तारुण्य का त्याग नहीं किया, परन्तु तरुणाई के बलशाली निर्माण में उन्होंने सम्पूर्ण स्थिरता, समस्त समझदारी लगा दी जिस का संकेत अष्टावक्र ने दिया था। यह सब भीष्म ने किया और एक विलक्षण अन्तर्मुखता पायी। वे अपने भीतर, और भीतर गोता लगाते रहे; उधर उन की तरल संवेदनाएँ धीरे-धीरे सूखती चलीं। उन में युधिष्ठिर की भाँति अन्तर्मन्थन से उद्भूत सूक्ष्म संवेदनक्षमता नहीं है। वह उन में रहे, इस की आवश्यकता ही क्या है! यदि भीष्म में ऐसा भोंथरापन न होता तो वे शान्त एवं दान्त वृत्ति से त्याग का भार सहजता से कभी न उठा पाते।

आन्दोलनकारी भावनाओं ने युधिष्ठिर को सुशोभित किया। क्वचित् विक्षोभ के आंसू विदुर सुखपूर्वक बहा सके। लेकिन मुझे भीष्म को छोड़ कर कोई दूसरा व्यक्ति नहीं दिखाई पड़ता जो ऐन जवानी में आंसू खो बैठा हो। यह व्यक्ति जिस ने दुराग्रह-पूर्वक अपने को अपने से अलग कर लिया था, जिस ने अपने हृदय के कुछ कपाटों को सदा के लिए बन्द कर दिया था, बेटों के, बहुओं के, नाती-पोतों के, समग्र परिवार के सुख-दुखों को अत्यन्त सुकुमारता से सहलाता रहा। भीष्म सभी अर्थों में सच्चे पितामह हैं। धरती पर अंगद के पाँव की तरह जमा हुआ यह व्यक्ति नाती-पोतों के दैनन्दिन व्यवहार में पूरा-पूरा डूब चुका है। स्वयं ब्रह्मचारी है, लेकिन डालियाँ-टहनियाँ अनगिनत हैं। वह कभी खिलता नहीं है, हँसता नहीं है; और हज़ारों चिड़ियाँ उस के फलों में नित्य चोंच मार रही हैं, उन्हें रीता कर रही हैं। उन्हें कृतार्थ कर रही हैं। यदि महाभारत में सच्चे अर्थों में अंकुरित होना कोई जानता हो तो वे भीष्म ही हैं। मिट्टी को त्याग कर ऊपर उठने को वे बिलकुल तैयार नहीं हैं। उपभोगों का स्वर्ग तो उन्होंने सहज भाव से यौवनकाल में ही लुटा दिया। अपने दीर्घ जीवन में उन्हें कभी मुमुक्षु बनने की आवश्यकता न हुई। अगर शौक़ उन्हें है तो सिर्फ़ स्वर्ग और धरती के सम्पूर्ण अन्तर को समाप्त कर दोनों को एक ही धरातल पर लाने का!

और इसी शौक़ के कारण वे 'पितामह' के रूप में सुशोभित होते हैं। भीष्म का वात्सल्य हर माता को हरा सकता है। वह उत्तरोत्तर पकता जा रहा है। युधिष्ठिर अनेक वार कहते हैं गद्गद स्वर में कि भीष्म ने कुन्ती जैसे वात्सल्य से हमारा पालन-पोषण किया है। दुर्योधन को छोड़ दें तो प्रत्येक व्यक्ति कभी न कभी भीष्म के प्रति प्रेम और वात्सल्य व्यक्त करता है। दुर्योधन को भीष्म के धराशायी होने का समाचार मिला तो वह अपना दुख न दबा सका। दुख स्वार्थ से प्रेरित था ऐसा नहीं कह सकते। भीष्म की ममतालु वृत्ति को व्यास ने वाचाल होने से बचाया है। ऐसा नहीं दिखता कि भीष्म कभी छोटे बच्चों के लाड़ कर रहे हों या भाव-विवश हो कर अपने अन्तःकरण को खोल रहे हों। व्यास ने भीष्म के आसपास एक भी कोमल दृश्य चित्रित नहीं किया है। इस वत्सल पालनकर्ता की, पितामह की पृष्ठभूमि को उन्होंने एक अनोखे सुकुमार रंग से रँगा है। जो चित्र भीष्म का बनाया है, वह सूखी और सख्त रेखाओं से बनाया है। प्रत्येक रेखा एकदम परिमाणबद्ध है, भरी-भरी—और आकृति की गोलाई कहीं भी कंगूरा नहीं बनाती। भीष्म का स्वर गम्भीर है; पर, अब उस में जीवन के पूर्वार्द्ध के निग्रह की कठोरता नहीं रह गयी है। स्वयं निग्रह ही सीझ-सीझ कर मुलायम पड़ गया है। आश्चर्य होता है, क्या इसी व्यक्ति ने हठपूर्वक निग्रह अपनाया था? क्या भीष्म ने जान-बूझ कर अपनी उत्कट वृत्तियों को भदरंग कर दिया था? अथवा वैराग्य का सामान्य आदर्श—क्या व्यास ने संस्कृति सम्बन्धी यह नियम स्वीकार कर लिया था कि आदर्श चाहे क्षत्रिय का बाना पहन कर राजप्रासाद में रहता हो, लेकिन उसे अविकृत ही रहना होगा; उस में ज़रा भी विकृति नहीं आनी चाहिए।

भीष्म विरागी हैं, अतएव पाण्डु के राजगद्दी पर बैठने के पश्चात् वे कर्तव्य-पूर्ति का सन्तोष पा कर वन में तपस्या करने के लिए जा सकते थे। तपस्या उन के लिए यों भी कोई मुश्किल चीज़ नहीं थी। तो फिर क्या था प्रयोजन कि व्यास ने भीष्म को संसार के विस्तार में विरक्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने को बाध्य कर दिया ?

कर्मठ तपस्वी, शान्त मुनि जब जाज्वल्यमान हठयोग सदृश तपस्या द्वारा इष्ट-साधना आरम्भ कर देते हैं तो वे भयानक हो उठते हैं। कुछ ऋषियों ने तो वैराग्य की ज्वाला की सहायता से प्रतिशोध लेने का भी प्रयास किया है। ईर्ष्या की, तपस्या के साथ दुश्मनी नहीं है। और क्षणिक मोह के कारण समूची तपस्या के नष्ट हो जाने के अनेक उदाहरण हैं। व्रतस्थ मुनियों का बीज परम निर्माणकारी होता है, नियोग के रूप में यही विश्वास महाभारत में भी पुनः व्यक्त किया गया है। पारम्परिक तपस्याओं के प्रांगण में उपस्थित विविध मूर्तियों को व्यास ने तैयार किया है; परन्तु अपनी तबीयत से उन्होंने एक, सिर्फ़ एक मूर्ति बनायी है। और इस तरह बनायी है कि आप कह सकते हैं कि बिगड़ गयी है, इसलिए अधूरी छोड़ दी गयी है। व्यास ने इस मूर्ति के निर्माण में ऐसी प्राणातीत कुशलता दिखायी है कि आगे चल कर कई जगह वह उन से सँभल ही नहीं पायी है। हिम्मत ही नहीं कर पाये व्यास कि आखिरी बार छू कर उसे पूर्णता देते। यहाँ उन्होंने तपस्या की विशिष्टता को ज़रा तिरछापन दे कर इस्तेमाल किया है। अम्बा के विद्वेष की किरण को जरा भी ढलने नहीं दिया है। वह किरण अम्बा की मृत्यु के बाद भी फीकी नहीं पड़ी; शिखण्डी में वह जलती मशाल ले कर अवतीर्ण हुई।

अम्बा का प्रसंग है तो छोटा सा, परन्तु ऐसा धधकता हुआ कि प्रतीत होता है, जैसे इसी चिनगारी में भारतीय युद्ध का अंगार समाया हुआ है। भीष्म कुरुवंश की वृद्धि के प्रतीक हैं, कुरुवंश के विनाश के भी ! अम्बा की प्रतिहिंसा की धार इतनी तेज है कि यही निष्कर्ष निकालना पड़ता है। अम्बा भीष्म की दुर्भाग्यविधात्री है। अम्बा के अस्तित्व के फलस्वरूप ही हम शन्तनु की लम्पटता और स्वार्थ को सह लेते हैं। भीष्म ने अत्यन्त सहजता से समूचे प्रसंग को अपने सामने से गुजर जाने दिया है, मानो जो घटित हो रहा है, वह अत्यन्त स्वाभाविक है। परन्तु वे उस की प्रतिक्रिया को नहीं रोक पाये : उस प्रतिक्रिया का नाम है अम्बा। दुर्बल भाई की खातिर अपने अमोघ पराक्रम को पानी की तरह बहाने वाले इस पुरुष को अम्बा ने धिक्कारा। उस के पौरुष को चुनौती दी। नीति समझायी कि अपहृत कन्या का पाणिग्रहण अपहर्ता को ही करना पड़ता है और साथ ही यह संकेत भी दिया कि मैं शाल्व के प्रति प्रेमबद्ध थी इसलिए मेरा अपहरण कर के तुम ने अनुचित कार्य किया है। कहाँ जानती थी अम्बा कि भीष्म तो पहले से ही आँसू खो बैठे हैं, भावों को पहचानने की शक्ति गँवा चुके हैं ! भीष्म एक युग से त्याग से बनी रिक्तता को सहिष्णुता से पूरने का प्रयास कर रहे थे। उन के जीवन में अब तूफ़ान नहीं उठते थे। चाँदनी नहीं थी; रुदन नहीं

था। तरुणाई के तीसरे पहर में अपने जीवन को झकझोर देने वाले अन्तिम तूफ़ान को भीष्म ने देखा तो सावधान हुए और अम्बा को मुक्त कर दिया। ऐसा नहीं दिखाई पड़ता कि उन्हें प्रेम-भंग सहना पड़ा हो। कदाचित् पिता के जीवन में प्रेम और काम की विचित्र परिणति को देख कर उन्होंने प्रीति के अंकुर को भस्म कर दिया था।

अम्बा ने प्रेम-भंग और मान-भंग एक ही समय देखा। अम्बा सत्यवती से अधिक श्रेष्ठ थी। सत्यवती ने विचित्रवीर्य की मृत्यु के पश्चात् भीष्म से प्रार्थना की थी कि तुम अम्बिका व अम्बालिका के साथ सहशयन कर नियोग-पद्धति द्वारा पुत्र उत्पन्न करो। परन्तु सत्यप्रतिज्ञ भीष्म ने स्वीकार नहीं किया। इसी कारण व्यास धृतराष्ट्र, पाण्डु व विदुर के पिता बने। फिर भी, बिलकुल पहली बार भीष्म ने अम्बा को जो अस्वीकृत किया था, वह दूसरी बार की अस्वीकृति से विशिष्ट था; दूसरी अस्वीकृति पहली की बराबरी नहीं कर सकती। जब तक सत्यवती नहीं चाहती, कुरुवंश का क्षय नहीं हो सकता था। यद्यपि भीष्म ने इनकार कर दिया था, फिर भी उस की कोई प्रतिक्रिया न हुई; वही बात हुई जो होनी थी। और एकदम सहज रूप में। लेकिन अम्बा की प्रथम अस्वीकृति की घटना में विस्फोट छिपा था।

शिखण्डी को देख कर भीष्म को पुरानी घटना का स्मरण हो आया। भीष्म अपने विषय में कभी कुछ नहीं कहते; कौरवों को अपने व्रत की कहानी सुनाते भी हैं तो एकदम संक्षेप में। फिर सुनाते हैं अम्बा की कथा। अपने यौवन की वह एकमेव रंगीन घटना सुनाते समय लगता है, भीष्म आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। अर्जुन के बाण की गंगा उन की तृषा मिटाती है। उन के कथन के प्रवाह से अनुमान किया जा सकता है कि अम्बा-प्रसंग उन्हें एक प्रकार का सन्तोष दे रहा है। महाभारत में यही एक संकेत मिलता है जो याद दिलाता है कि भीष्म भी कभी तरुण थे! अम्बा की तपस्या की, जान-बूझ कर मृत्यु को बुलाने की—महाभारत में सिर्फ़ यही घटना आत्महत्या से सम्बन्ध रखती है—घटना की स्मृति भीष्म में बुझ नहीं पायी थी, क्या इसी कारण वे दुर्योधन को नहीं रोक पाये? इसी कारण उस की उद्दण्डता को सह गये? ऐसा तो नहीं कि उन्होंने अनुभव किया हो कि दैव अटल है और अम्बा ही दैव है?

महाभारत के तमाम व्यक्ति हमारे सामने असली रूप में आते हैं, तब वे तरुणाई के जोश में होते हैं। केवल भीष्म हैं जो मान रहे हैं कि जीवन के कर्तव्य पूरे कर चुके हैं। फिर भी वे युद्ध में जोत दिये जाते हैं। सेनापति बनते हैं। मन से पाण्डवों की ओर, शरीर कौरवों की सेवा में। धृतराष्ट्र और दुर्योधन का विचार यह कि बूढ़ा हमारी दी हुई रोटी खाता है और उधर पाण्डवों से मिला हुआ है। भीष्म अपनी विवशता जानते हैं; लेकिन जो उदारता उन्होंने किसी युग में दिखायी थी, पिता को दान के रूप में जो दे दिया था उसी का वह प्रसाद है, यह भी जानते हैं; और इसी लिए शान्त बने रहते हैं। परन्तु अब युद्ध के मैदान में खड़े हैं तो वृद्ध स्कन्ध

भार उठा पाने में असमर्थ हैं। वे इतने गतानुगतिशील हो चुके हैं कि युद्ध में भाग ले कर भारमुक्त हो जाना चाहते हैं। भीष्म पिता की खातिर जो त्याग करते हैं, उसे देख कर हम उन के प्रति दया नहीं दिखाते, बल्कि उन को प्रशंसा करते हैं। परन्तु उन के वचनों का परिपाकात्मक गुण यह है कि हमें भीष्म दयनीय जान पड़ते हैं। दुर्योधन ने युद्ध के समय उन का अपमान करते हुए कहा था, "आप के मन पर तो पाण्डव छाये हुए हैं, आप मन लगा कर युद्ध करते ही नहीं।" अपमान-मुक्त होने के लिए भीष्म प्राणपण से युद्ध करते हैं। प्रतिज्ञा करते हैं। कृष्ण ठहरे महाचतुर। अपनी प्रतिज्ञा भंग कर वे भीष्म की प्रतिष्ठा की रक्षा करते हैं। व्यास ने अर्जुन की मूर्छा के प्रसंग का प्रयोग कुछ इस प्रकार किया है कि वह भीष्म के पूर्वपराक्रम का प्रतीक जान पड़ता है। वास्तविकता जानकारों के सामने उजागर हो कर ही रहती है। पितामह प्राणपण से लड़ रहे हैं। अत्यन्त कौशलपूर्वक लड़ रहे हैं परन्तु उन के लड़ने के दिन लद चुके हैं। शरीर थक चुका है। भीष्म के प्रति सभी आदर दिखाते हैं, लेकिन दबदबा नहीं मानते। इस तथ्य को अन्य कोई न जाने चाहे, परन्तु भीष्म अच्छी तरह जानते हैं। क्योंकि जब दुर्योधन ने ताना कसा तो भीष्म चिढ़ उठे, बोले, "मैं वृद्ध हूँ। मुझ से जो बन पड़ा है, किया है; कर भी रहा हूँ किन्तु पाण्डव अजेय हैं। ठीक है, देख लो मेरा पराक्रम।"

अर्जुन भीष्म से लड़ा, पर कैसा तो लगा उसे। भीष्म ने उस से पहले ही कह दिया था, "वत्स, तुम्हें देख कर प्रसन्न हूँ। युद्ध करो और विजय प्राप्त करो।"

अर्जुन कहता है, "यह बताइए कि बग़ैर आप से युद्ध किये विजय कैसे प्राप्त की जा सकती है।"

और भीष्म की आँखों के सामने जैसे तारुण्य आ खड़ा होता है। शस्त्र के स्पर्श द्वारा वे अतीतकालीन रणभूमि का अनुभव ताज़ा कर लेते हैं। कहते हैं, "मुझे हराने वाला पैदा नहीं हुआ है। जब तक मैं नहीं हारता, मृत्यु भी मुझ पर विजय नहीं पा सकती।" इन दो वाक्यों में व्यास ने दो युगों को जोड़ कर रख दिया है। इन वाक्यों में भीष्म का बल और उन के समग्र जीवनकार्य की असफलता का सार समाया हुआ है। भीष्म बार-बार दुर्योधन से नाराज़ होते हैं। धृतराष्ट्र को आदेश देते हैं कि दुर्योधन को सँभालो, लेकिन कोई उन की तरफ़ ध्यान नहीं देता। पाण्डवों को वन में जाना पड़ा और भीष्म दुख के सागर में डूब गये।

गो-ग्रहण-प्रसंग में उन्हें अर्जुन से पराजित होना पड़ा। पीठ दिखा कर भागना पड़ा। द्रोणाचार्य की भी यही गत बनी। फिर भी भीष्म ने मानसिक सन्तुलन नहीं त्यागा। उन्होंने अन्त तक युद्ध टालने का प्रयास किया। गो-ग्रहण प्रसंगोपरान्त उन्होंने पाण्डवों से वचन माँगा कि वर्ष भर तक कौरव अभयपूर्वक रहेंगे। कौरवों का नमक खाया था; अतः ईमानदारी से नमक-हलाली निभाने की पराकाष्ठा की।

पिता के वंश की भलाई के लिए भीष्म ने गर्भिणी का व्रत अपनाया था।

शरशय्या पर पड़े भीष्म ने युधिष्ठिर के सामने अनेक धर्मों का विवेचन किया। राजधर्म के विषय में उन्होंने कहा है, "राजा को गर्भिणी का अनुकरण करना चाहिए। गर्भिणी अपना हित नहीं देखती। मनमानी नहीं करती। सिर्फ़ गर्भ के हित को देखती है।"

भीष्म ने आजीवन कुरुवंश को अपना गर्भ माना और अन्त तक वे अपने को भूल कर उस के पोषण में मग्न रहे। वह पोषण भी बेकार साबित हुआ। आखिर हासिल क्या हुआ? गर्भपात हो जाने पर भी रो न पाने का वरदान। यही सत्य है। भीष्म जाते रहे, लोगों ने आँसू बहाये। भीष्म इच्छामरण के अधिकारी थे; वे शर-शय्या पर पड़े रहे। युद्ध समाप्त होने तक होश में रहे, जागृत रहे। पता नहीं, जागृति का समाप्त न होना भीष्म के लिए वरदान था, अथवा अभिशाप!

भीष्म के लिए सब ने आँसू बहाये हैं, भीष्म किसी के लिए आँसू न बहा सके। शरशय्या पर थे, तब भी एक विशिष्ट तन्द्रा में रहे। अन्त में उन्होंने युधिष्ठिर को समस्त धर्म-विचार समझाये। वे व्यावहारिक और आध्यात्मिक विषयों सम्बन्धी तमाम पारम्परिक सिद्धान्तों के ज्ञाता थे—और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। शान्तिपर्व और अनुशासनपर्व भीष्म के पाण्डित्य के खज़ाने के साक्षी हैं। भीष्म की मृत्यु को अधिक समय तक खींचने तथा उन के ज्ञानभाण्डार को उलीचने की दो क्रियाओं द्वारा व्यास ने उन के जीवन के रूखेपन को निःशब्द रह कर दिग्दर्शित किया है। जीवन के हर क्षण में भीष्म ने लगातार ज्ञान-संचय किया था, लेकिन उन के चिन्तन में गहराई नहीं है। शायद विस्तार की ललक ने गहराई में पैठने की वृत्ति को सुखा दिया था। भीष्म ने शरशय्या पर लेटे-लेटे सब के मरण का समाचार सुना, परन्तु उस समय वे स्वयं मौत की गोद में लेटे थे। अतएव उन का शोक न करना एक प्रकार से स्वाभाविक ही था। कोई अन्य होता तो शोक में डूब जाता। द्रोण ने शोक नहीं किया? घटोत्कच ने नहीं किया? अर्जुन ने नहीं किया? दुर्योधन ने नहीं किया? किन्तु भीष्म दूसरे प्रकार के मनुष्य थे। वे अश्रु गँवा बैठे थे। पिता की प्रतिज्ञा की खातिर अश्रुओं का वरदान गँवा चुके थे। फिर भी आश्चर्य होता है यह देख कर कि पिता का समस्त उत्तराधिकार उन के वंशजों को दिलाने में उन्होंने कभी कोताही नहीं की। अन्त में शेष रहा ज्ञान। राजधर्म का विवरण दे चुकने के बाद भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा, "मेरे पिता शन्तनु ने मुझे यह राजधर्म समझाया था, मैं ने वही तुम्हें समझाया है। भीष्म के पास यही उत्तराधिकार शेष था, उसे कुरु वंश के उत्तराधिकारी को सौंप कर भीष्म सम्पूर्णतः रिक्त हो गये। ऋण-प्रदान के बाद श्रीकृष्ण के दर्शनोंकी कृतार्थता का अनुभव कर भीष्म ने देह-त्याग किया। भीष्म का अतिदीर्घ जीवन, सर्पगति मृत्यु, उन की सदा झुकी गरदन, दूसरों के दुखों को देख कर तड़पती सूखी आँखें, क्रोध के उद्गार भी ऐसे जैसे सूखे पत्तों का मर्मर हो—ये सारी बातें विशीर्णता का द्योतन करती हैं। भीष्म का आधार ले कर व्यास ने आँसुओं के खो जाने के बाद जो अननुभूत स्थिति उद्भूत होती है, उस का रेखांकन

किया है। कैसा विचित्र है यह उद्भव जो पराशर के स्खलन का परिणाम नहीं है, शन्तनु की निर्लज्ज कामवासना की परिणति नहीं है; वह है भीष्म की निखोट, असूया-रहित वृत्ति का निचोड़ ! और कितना विलक्षण है भीष्म के ब्रह्मचर्य और व्रतनिष्ठा के फलस्वरूप विचित्रवीर्य की सदोष सन्तान का नियोग द्वारा जन्म और समस्त आगामी अघोरी घटनाओं का सूत्रपात !

पहली पीढ़ी में अन्धता, अपमृत्यु; दूसरी पीढ़ी में विलक्षण विरोधी गुण-दोषों का विस्तार और समस्त महाभागों और खलपुरुषों का एक ही धरातल पर उतर आना; हम जितनी गहराई में जा कर अनुसन्धान करते हैं, यही दिखता है कि इन का स्रोत भीष्म ही हैं। प्रत्यक्ष जन्मदाता छुट्टी पा जाते हैं, फँस जाता है पालनकर्ता जो सम्पूर्ण भोक्तृत्व को चुपचाप सहता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में सन्तान-कामना को मानवीय कामनाओं में सर्वप्रधान माना गया है। गृहस्थाश्रम के श्रेय हैं बेटे, नाती-पोते। आश्चर्य की बात है कि पुरातन साहित्य के विस्तृत विश्व में पितामह और पौत्र-प्रपौत्रों के स्नेह-प्रसंग तो दरकिनार, किसी विशिष्ट पितामह का पता तक नहीं चलता। भीष्म एकमात्र और अकेले पितामह हैं; पितामह का पद उन्होंने अपने गुणों के आधार पर पाया है, मात्र सांसारिक परम्परा के आधार पर नहीं। भीष्म ने पुत्र के रूप में, भाई के रूप में, पितृव्य के रूप में और पितामह के रूप में सम्बन्धों का निर्वाह किया, वैसा किसी ने नहीं किया। फिर भी विशीर्णता की दैवगति से बँधे होने के कारण उन की किसी भी कृति को व्यास चमकीले रंगों में उभार कर दिखा नहीं पाये। भीष्म का चित्र रंग-उड़ी, इधर-उधर फटी-उधड़ी पुरातन कलाकृति बना रहा, व्यास ने उसे ऐसा ही रहने दिया। इसी भदरंग, अबोल किन्तु परिपूर्ण चेतनाशील पितामह के इर्द-गिर्द, घनघोर युद्ध के बीच, रंग-रेखाओं से सजी सारी आकृतियाँ घूम रही हैं। यही कारण था कि युद्ध समाप्त होने तक भीष्म मरे नहीं। व्यास ने उन के मुँह से नाना प्रकार के नीतितत्त्वों को प्रदीर्घता से कहलवाया है। उद्देश्य शायद यही रहा हो कि मूल आकृति-बन्ध ज्यों का त्यों रहे। उस का सन्तुलन न बिगड़े। जो भी कुछ उद्दाम है, उच्छृंखल, अनिर्बन्ध और स्खलित है, वह सब समान धरातल पर उतरे। मात्र सन्तुलन स्थापित करने के लिए इतना विस्तार ! भीष्म चल बसे, युधिष्ठिर ने गद्दी सँभाली। विशीर्णता जाती रही और जाता रहा उस के साथ ही वह तनाव जो युद्ध के कारण उत्पन्न हुआ था। तभी महाभारत का नाट्य भी उतार पर आ गया।

मनुष्य में विलीन मनुष्य

महाभारत में द्रौपदी उद्वेग के क्षणों में सत्य के दैनन्दिन नीतितत्त्व कह जाती है। वे तत्त्व नहीं, बल्कि चुनौतियाँ हैं, जिन्हें चार पुरुष चार प्रकार से साकार कर के स्पष्ट करते हैं। कृष्ण उन्हें सुलझाने के लिए अर्धपार्थिव, अर्धदैवी स्वरूप में दर्शन रचते हैं। युधिष्ठिर भावनाओं के समुद्र में गोते खाते हुए उन के निकट पहुँचते हैं। भीष्म मौन धारण कर के युद्ध की ज्वालाओं में झुलसते हुए अतीत का आधार ले कर पारम्परिक अध्यात्म एवं व्यवहारवाद में विलीन हो जाते हैं। द्रौपदी के निगूढ़ प्रश्नों के गिर्द घूमते रह जाते हैं। विदुर उन प्रश्नों को भली भाँति जानते हैं किन्तु उन का व्यवसाय इतना निम्न कोटि का है कि परम्परा उन्हें बोलने ही नहीं देती। विदुर की मर्यादा-शीलता की चेतना में ही वह अर्धस्फुट सत्य कभी-कभार अपनी झलक दिखा जाता है: जानकार उसे देख लें तो देख लें। जंगली फूल कैसे विकास पाता है? विदुर के मन का विकास व्यास ने जंगली फूल की तरह दिखाया है।

विदुर पण्डित हैं; सिर्फ़ पण्डित ही नहीं, महापण्डित कहे जाते हैं। उन की वाणी सारे महाभारत में बेहिसाब फैली हुई है। परन्तु वह है आडम्बरहीन। हवा के झोंके की भांति वह कभी-कभार आती है और दम घोंटने वाले वातावरण को स्वच्छ, प्रसन्न और गतिशील बना कर गुज़र जाती है। विदुर मनमौजी व्यक्ति हैं परन्तु स्वैर नहीं। वे नियम-अनुशासन के समर्थक हैं, दास नहीं। जहाँ विदुर जाते हैं, प्रसन्नता अपनेआप चली आती है। जहाँ विदुर जाते हैं, वहाँ निर्मल आत्मपरीक्षक हृदय अवतीर्ण होता है। जहाँ विदुर हैं, वहाँ दिलासा है; क्योंकि वे सत्ताहीन सज्जनता के प्रतीक हैं। भीष्म की सज्जनता में एक प्रकार की उग्रता है: युयुत्सु के संन्यास की भांति। उन की सज्जनता की प्रतिक्रिया भी उतनी ही उग्रता लिये हुए है। विदुर की सज्जनता केवल भलमनसी है; सत्तारहित, पदविहीन, ऐश्वर्यमुक्त—और फिर भी स्थिति यह कि वे लोग जो सत्ता धारण करते हैं, विदुर के सामने अपने को सतत दुर्बल अनुभव करते हैं। विशुद्ध सज्जनता का अपना एक तेज होता है; विदुर उस के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं।

धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर भाई हैं। तीनों की भौतिक नियति में कोई न्यूनता आ कर बस गयी है। धृतराष्ट्र और पाण्डु रानियों के बेटे थे, अतएव राजपुत्र

कहलाये; और विदुर दासी के बेटे थे इसलिए पिछली क़तार में रहते थे, यद्यपि उन का पालन-पोषण राज-परिवार में हुआ था। तीनों में शारीरिक दृष्टि से वही निर्दोष थे। धृतराष्ट्र के रूप में व्यास ने दिखाया है कि अपंग व्यक्ति चाहे सत्ता पा ले, धन पा ले, पुत्र-पौत्रों से भरा परिवार बसा ले, वह मन ही मन कुढ़ता रहता है। विदुर ने सामाजिक जीवन में भले ही निम्न स्थान पाया हो, लेकिन वे शारीरिक और मानसिक सामर्थ्य के अधिकारी हैं। वे व्यावसायिक दृष्टि से क्षत्रिय नहीं हैं। वे हैं ब्राह्मण-पुत्र, ब्राह्मण फिर भी नहीं। उन का स्थान सूत, चारण, मागध आदि में है फिर भी विदुर आश्रित नहीं हैं। वे प्रज्ञावान् हैं और अत्यन्त सदिच्छावान् एवं सद्भावनाशील हैं।

राजकुल तो पहले से ही बिखरा हुआ था। पाण्डु का परिवार आरम्भ से ही बाहर रहा; फिर भी सब लोग मन ही मन जानते थे कि राजसिंहासन के वास्तविक स्वामी पाण्डव ही हैं। कुछ लोग आक्रान्त थे, कुछ कुढ़ते थे। इसी लिए कुछ लोगों के हृदय में आशा के नये अंकुर फूट रहे थे। भीष्म और विदुर, दोनों, नवीन क्षितिज की ओर आशा भरी दृष्टि से देख रहे थे; क्योंकि दोनों के मन में दुर्योधन के प्रति स्वाभाविक तिरस्कार था। कहा जाता है कि दुर्योधन जन्म पाते ही गर्दभ-स्वर में चिल्लाया था। अशुभ स्वर था; सुन कर विदुर ने धृतराष्ट्र को समझाया था, "इस पुत्र को त्याग दीजिए।" पुत्र-स्नेह के कारण धृतराष्ट्र ने विदुर का कहना नहीं माना। विदुर की वाणी सतत सौम्य रहा करती थी; चुभती हुई बात कहना वे नहीं जानते थे। कभी-कभी धृतराष्ट्र से बातचीत करते समय क्रोध की भाप उड़ती और विदुर धृतराष्ट्र को अपनी बात न मानने की याद दिला कर दोष देते।

धृतराष्ट्र अपमान पी जाते; कहा करते, "भाई, पिता का हृदय ऐसा ही होता है।" विदुर के पास इस का प्रतिवाद नहीं था। वे या तो चुप रह जाते या विषयान्तर कर देते। अन्तिम निर्णायक क्षण में वे मौन साध लेते; क्योंकि बोलने का अर्थ होता वितण्डावाद करना। विदुर उस से दूर ही रहते। अतिरिक्त, व्यर्थ और अनावश्यक बोलना, बिनपूछे बोलना विदुर का स्वभाव नहीं था। वे आँखें खोल कर देखने वाले व्यक्ति थे। युद्ध का क्षेत्र उन के लिए वर्जित था। अतएव उन की क्रियाशीलता की चारदीवारी बन चुकी थी। जो घटित होता उसे देखते, नित्य नवीन ज्ञान प्राप्त करते थे वे; किन्तु उन का ज्ञान व्यवहारवाद के धरातल से उतरा हुआ नहीं था। मात्र विदुर एक ऐसे प्रयोगशील व्यक्ति थे, जो भीड़-भड़क्के से घिरे, दो टूक व्यवहारवाद की कसौटी पर विशुद्ध नैतिकता को कसते थे। यह शौक़ युधिष्ठिर को भी था; परन्तु उन के प्रयोगों को दुखी अनुभवों ने अपनी गति दी थी। विदुर के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन में स्वार्थभाव नहीं था। विदुर यों संसारी थे, परन्तु महाभारत में उन के निजी जीवन के लिए स्थान नहीं है।

धृतराष्ट्र अन्धे थे, अतएव उन का यह समवयस्क भाई मन्त्री बना। विदुर

अन्धे का उपहास नहीं करते, धृतराष्ट्र इसी कारण उन पर सर्वाधिक निर्भर थे। विदुर सूक्ष्मबुद्धि के धनी थे। वे सत्य कहने में आनाकानी नहीं करते। फिर भी सत्य कहते समय वे एक विशेष विषाद सतत अनुभव करते थे। वे जैसे जान चुके थे कि यदि अप्रिय किन्तु उपयोगी सत्य कहने की नौबत आती है तो वह घोर दैव-दुर्विपाक ही है। वे भी इसी निराशा से ग्रस्त हैं कि हर वस्तु दैवाधीन है। यही वजह है कि वे अपनी कर्तव्य-तत्पर नैतिकता की अत्यन्त सावधानी से रक्षा करते हैं।

विदुर राजपुरुष हैं—अत्यन्त आदर्श राजपुरुष हैं। तभी तो वे महानता का मर्म जानते हैं। उलझनों और पेचीदगियों से भरे राज परिवार में वे चतुरतापूर्वक, बग़ैर किसी को दुखाये, सब को सलाह देते हैं, उपयुक्त और उचित सलाह देते हैं। इस अवस्था में रह कर भी उन्होंने श्रेष्ठ मूल्यों के साथ समझौता नहीं किया। यह उन की सब से बड़ी विशेषता थी। विदुर जानते थे कि नैसर्गिक प्रेमालुता तथा चालाकी एक ही वृत्ति के दो भिन्न पहलू हैं। कैसा ही आपत्काल हो, कैसा ही कटु अनुभव हो, उन्होंने अपने हृदय के सन्तुलन को कभी बिगड़ने नहीं दिया।

विदुर परम्परागत पाण्डित्य के उत्तम प्रतीक हैं। परन्तु उन का पाण्डित्य अपने को मर्यादित इयत्ता में दिखाता है। विदुर शूद्र हैं। राजवन्धु होने पर भी परम्परा द्वारा स्थापित ज्ञान की लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन करने की आवश्यकता हो सकती है, विदुर के लिए यह जानना असम्भव था। उन के ज्ञान की इयत्ता अन्ततः व्यावहारिक आचार-नीति की इयत्ता थी, सर्वसाधारण सुविज्ञता की इयत्ता थी। समदर्शी मनुष्य की नैसर्गिक प्रेरणा ने उसे तेजोमय बनाया था।

विदुर की वाणी का प्रयोग व्यास ने अतिशय आयोजनपूर्वक किया है। वस्तुतः विदुर की वाणी क्या थी? सुभाषितों और कहावतों का लम्बा-चौड़ा संगुम्फन। विदुर ने स्पष्ट शब्दों में कहा ही है कि होशियार आदमी को सुभाषितों का संग्रह करना चाहिए। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जिस के पास विशाल संग्रह है, वही समाज में प्रतिष्ठा पाता है। लेकिन व्यास ने विदुर को स्वेच्छापूर्वक सुभाषित उगलने वाला यन्त्र नहीं बनाया। महाभारत में विदुर-नीति ने भरपूर जगह घेर ली है, परन्तु उसे महाभारत के नाट्य में कुछ इस खूबी से पिरोया गया है कि गीता की भाँति उस का अस्तित्व भी आवश्यक प्रतीत होता है। विदुर-नीति का आन्तरिक रूप गीता से बहुत भिन्न है। गीता की भाँति उसे भी सम्भ्रमित श्रोता को आश्वासन देने के लिए प्रयुक्त किया गया है। परन्तु गीता का उद्देश्य है युद्धकर्म; विदुर-नीति का लक्ष्य है सार्वकालीन शान्तिमय जीवन। गीता अर्जुन में आशा का स्फुरण उत्पन्न करती है; विदुर-वाणी भग्नहृदय धृतराष्ट्र को यह समझाने के लिए अवतीर्ण हुई है कि अपनी मूर्खता का परिपाक भी शान्तिपूर्वक सहा जा सकता है; यही नहीं, अनुताप-विधि भी समृद्ध तपश्चर्या का एक अंश है। अनुगीता को देख कर पूछा जा सकता है कि क्या अर्जुन गीता समझ पाया था। आरम्भ में धृतराष्ट्र विदुर के अनुभव-सिद्ध शब्दों की

और ज़रा भी ध्यान नहीं देते; किन्तु जब विनाश उन्हें चारों ओर से लीलने के लिए घेरता है, तो विदुर के शब्द ही धृतराष्ट्र का एकमात्र आधार बन जाते हैं। कृष्ण और अर्जुन आगे चल कर दूर-दूर रहने लगे थे। अन्तिम क्षणों में कृष्ण एकाकी थे; परन्तु धृतराष्ट्र और विदुर सतत साथ-साथ रहे। उन का अन्त भी एक ही समय हुआ। बिलकुल अन्त में विदुर ने देखा कि धृतराष्ट्र का शोक सम्पूर्णतः बुझ गया है और उन के हृदय के गर्भगृह में शान्ति निनादित हो रही है : यही विदुर के जीवन का लक्ष्य था और यही समापन भी। इस राजपुरुष ने एक राजा के जीवन के साथ जीवन व्यतीत किया था; वह उसी के साथ समाप्त हो गया। विदुर की विशेषता यह थी कि उन का निजी जीवन वहीं समाप्त नहीं हो गया। अन्य लोगों की भाँति वह अन्तिम साँस ले चुकने के बाद रुक नहीं गया। विदुर का अन्त बीज की भाँति था; वह मिट्टी में बोया जाता है और मिट्टी उसे ढक लेती है। महाभारत में अनेक अन्त हैं; यह एक अन्त अत्यन्त विलोभनीय है। मृत्यु भय नहीं उपजाती; सभी दर्शन यही तो कहते हैं किन्तु आनन्द-पर्यवसायी मृत्यु का उदाहरण अत्यन्त दुर्लभ है। सत्य तो यह है विदुर को छोड़ कर अन्यत्र ऐसी मृत्यु के विषय में मैं ने कोई उल्लेख नहीं पाया है।

धृतराष्ट्र और गान्धारी के साथ विदुर वन में तपस्या कर रहे थे। अन्य व्यक्ति या तो समाधि ग्रहण करते हैं, अथवा प्राकृतिक तरीक़े से मृत्यु के अधीन हो जाते हैं। विदुर हैं कि युधिष्ठिर को देख कर आनन्द-सागर में डूब जाते हैं। उन की समस्त वृत्तियाँ खिल उठती हैं। उन के आनन्द में भक्ति का उफान नहीं है; क्योंकि युधिष्ठिर विदुर को पितृतुल्य मानते थे। विदुर का वर्णन करते हुए युधिष्ठिर कहते हैं, "विदुर भक्त हैं, गुरु हैं, पालक हैं, पिता हैं, माता हैं, सखा हैं। वे अगाध बुद्धि के स्वामी हैं; दीर्घ दृष्टि रखते हैं।" विदुर ने युधिष्ठिर को माँ की ममता दी थी, युधिष्ठिर यह भूल नहीं सकते। व्यास ने युधिष्ठिर और विदुर के बीच एक दृढ़ प्रेमसम्बन्ध प्रस्थापित किया है। कृष्ण और अर्जुन के स्नेहसम्बन्ध का व्यास ने अतिशय गौरव किया है, वैसा इन दोनों का नहीं किया है। कृष्ण और अर्जुन एक-दूसरे के प्राण थे; इन के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस का मुख्य कारण यह है कि दोनों समवयस्क नहीं थे। दोनों में एक पीढ़ी का अन्तर है। व्यास ने उस अन्तर का भी निर्वाह किया है; और निर्वाह कर दो समानधर्मा हृदयों को अन्त में एकरूप करने का अपूर्व कौशल भी दिखाया है। दिखाया है इस तरह कि सब सहज प्रतीत हो। वह सहजता भी व्यास की कलादृष्टि ही वहन कर सकती है।

युधिष्ठिर और विदुर के समान विचारों के अनेक सन्दर्भ महाभारत में उपलब्ध हैं। युद्ध से पहले युधिष्ठिर ने संजय के साथ धृतराष्ट्र को सन्देश भेजा था कि मैं समझौता करने के लिए आ रहा हूँ। संजय ने धृतराष्ट्र को समझाया, "जिस प्रकार सर्प अपनी जीर्ण केंचुली छोड़ देता है, उसी प्रकार वह अजातशत्रु आप के विषय में

पापभाव को सर्वथा त्याग कर स्नेहपूर्वक व्यवहार करता है। आप भी उदारमना की भाँति पाण्डवों से समझौता कर लीजिए। मूढ़ता का बरताव मत कीजिए। प्रातःकाल युधिष्ठिर से बातचीत कीजिए। यह न भूलिए कि यदि युद्ध होगा तो प्राणहानि का पाप आप के सिर पर पड़ेगा।''

रात के समय धृतराष्ट्र को नींद नहीं आ रही थी। उन्होंने विदुर को बुलवाया और बोले, ''मुझे नींद नहीं आ रही है।''

विदुर ने कहा, ''आप के मन में बुरे विचार तो नहीं हैं न? बुरे विचार नींद को खा जाते हैं। आप को परद्रव्य का लोभ तो नहीं है न? कर्ण, दुःशासन, शकुनि और दुर्योधन को सारा कारोबार सौंप कर क्या आप यश की कामना कर रहे हैं?''

रात गहरी हो रही थी। बात धृतराष्ट्र को चुभ गयी; चुप्पी साध ली। धृतराष्ट्र की आदत थी कि जब विदुर ज्ञान की बात बताते थे तो वे पीछे हट जाते थे। परन्तु वह रात विदुर की दृष्टि में एक बिलकुल अलग रात थी। उसी रात युद्ध की नींव पड़ने वाली थी, अथवा शान्ति की। विदुर भी भीतर से प्रक्षुब्ध थे। बुद्धिमान् और मूर्ख की व्याख्या से प्रारम्भ कर के व्यावहारिक नैतिकता के जिन तमाम अंगों की विदुर को जानकारी थी, उन सब को उन्होंने सुसंगति-विसंगति का विचार किये बिना, एक के बाद सुना दिया। कहीं ऐसा न हो कि एकाध अंग इस अन्धे को, अपने दुर्बल राजा को, अपने ज्येष्ठ बन्धु को सुना न पायें; और सारी बात बिगड़ जाये। और विदुर ने असंख्य पारम्परिक सुभाषितों में निहित दर्शन का डूब कर निरूपण किया।

विदुर के निरूपण में एक अंश ऐसा भी है जो उन के व्यक्तित्व को दिग्दर्शित कर जाता है। व्यक्तित्व की वही विशिष्टता युधिष्ठिर में भी मिलती है। दोनों के जीवन की भूमिकाएँ अवश्य भिन्न हैं। व्यक्तित्व की समानता विदुर-कृत क्षमा के विवेचन में लक्षित होती है। वे कहते हैं, ''क्षमाशीलों में एक दोष पाया जाता है। लोग उन्हें दुर्बल कहते हैं। वास्तव में वह दोष नहीं है। क्षमा शक्तिहीनों का गुण और समर्थों का भूषण है। क्षमा में वशीकरण की शक्ति है। क्या है जो क्षमा से प्राप्त नहीं होता? जो शान्ति का खड्ग धारण करता है, वह क्या नहीं कर सकता?'' यह क्षमासूत्र उस भाष्य से भिन्न नहीं है जो युधिष्ठिर ने द्रौपदी को लक्ष्य कर किया था; क्योंकि दोनों की टेक एक ही है: ''अगर चिनगारी घास-पातहीन ज़मीन पर गिरती है तो अपने-आप बुझ जाती है।''

कृष्ण के दौत्य-कर्म से पहले दुर्योधन के युद्ध करने के निश्चय को और धृतराष्ट्र के भीम के प्रति विद्वेष को ध्यान में रख कर भी विदुर युद्ध सम्बन्धी निजी राय जाहिर करते ही हैं। कहते हैं, ''युद्ध दो व्यक्ति करते हैं; एक मर जाता है, फिर भी दूसरा विजयी नहीं होता।'' यह कथन युधिष्ठिर के इस कथन से कि 'युद्ध में क्या है जो अच्छा है?' बिलकुल मिलता-जुलता है।

युद्ध समाप्त हो गया। युधिष्ठिर पर विरक्ति छा गयी और उन्होंने वन में जा कर तपस्या करने का हठ किया। अर्जुन और भीम ने उन्हें समझाया कि राजा के लिए धर्म की अपेक्षा अर्थ और काम महत्त्वपूर्ण हैं। भाइयों में तुमुल वाद-विवाद हुआ। उस समय यद्यपि विदुर यह नहीं चाहते थे कि युधिष्ठिर राज्य-त्याग कर के जंगल की राह पकड़ें, फिर भी उन्होंने धर्म को सर्वोपरि माना, और कहा, "राजा, धर्म सब से श्रेष्ठ गुण है; अर्थ मध्यम और काम कनिष्ठ।" भीम को भला क्या सन्तोष होता इस से! लेकिन उस ने भाँप लिया कि विदुर युधिष्ठिर को नहीं जाने देना चाहते। उस ने तो ठान लिया था कि विदुर को टोक कर, उलझा कर युधिष्ठिर को अपने विचारानुसार ही काम करायेंगे। सरलहृदय भीम ने आरम्भ में काव्यमय वाणी में कहा, "पुष्पों में मधु है, मनुष्य में काम है। काम धमार्थयोनि है। जिस में कामभाव नहीं रहता, वह अर्थ की इच्छा नहीं करता। जिस में कामभाव नहीं होता, वह धर्म की वासना नहीं रखता। इसी कारण काम का महत्त्व माना गया है। वणिक, किसान, अहीर, बढ़ई, दर्ज़ी, भिक्षुक-पुरोहित—सब के सब काम के कारण ही कर्म की प्रेरणा पाते हैं।"

भीम के तर्क को काटना मुश्किल था। विदुर अधिक सूक्ष्मता से धर्मनिरूपण करना टाल गये, क्योंकि वे धृतराष्ट्र को पहले ही दतला चुके थे कि मैं शूद्र हूँ और मुझे अध्यात्म-विद्या का उद्गान करने का अधिकार नहीं है। सूक्तियों, कहावतों और दृष्टान्तों की सहायता से उन्होंने नाना प्रकार के आचार-धर्मों का ऊहापोह किया और धृतराष्ट्र सन्तुष्ट हुए। विदुर से उन्होंने कहा, "तुम मुझे अधिक गहन धर्मतत्त्व समझाओ।" विदुर ने उत्तर दिया, "मैं शूद्र हूँ; जितना कह चुका हूँ, उस से अधिक कहने का मुझे अधिकार नहीं है।" यह कह कर उन्होंने सनत्सुजात को बुलवाया और उस से अध्यात्म-विद्या का निरूपण कराया। परन्तु यह भिन्न अवसर था; इस बार युधिष्ठिर को निर्णय करना था। उन्होंने निर्णय किया भी: उन्होंने घोषित किया कि यद्यपि काम जीवन की मूल प्रेरणा है परन्तु मोक्ष ही जीवन का लक्ष्य हो सकता है, बल्कि होता है। जीवन में काम के स्थान के सम्बन्ध में दोनों भाइयों में समझौता हो गया। धर्म के उच्चतर स्थान के विषय में कोई मतभेद भी न रहा और युधिष्ठिर ने भीम को आश्वासन दिया, "जो कहोगे, करूँगा।"

ऐसे थे विदुर जो मनसा सतत युधिष्ठिर के निकट रहे। आखिरकार देह-त्याग का क्षण आया। युधिष्ठिर के मुख को एकाग्र मन से देख कर, उन की दृष्टि में दृष्टि डाल कर, दोनों के हृदयों के एकीकरण का विश्वास धारण कर विदुर ने अपने प्राण युधिष्ठिर में विसर्जित कर दिये। जिस प्रकार वनस्पति प्रकाश की ओर उन्मुख होती है, ठीक उसी प्रकार विदुर स्वयमेव युधिष्ठिर की ओर उन्मुख हुए। वह शब्दातीत प्राण-मिलन था। जैसा स्वाभाविक व उचित है एक ज्योति का दूसरी ज्योति से मिल जाना, वैसी ही थी इन दो आत्माओं की अखण्ड एकरूपता। भक्त अपने भगवान् में विलीन हो

जाता है; प्रेमीजन परस्पर में घुल-मिल जाते हैं; व्यक्ति लक्ष्य से जुड़ कर अलग नहीं रह जाता : ये घटनाएँ सस्ती तो नहीं हैं, पर अपरिचित भी नहीं हैं। विदुर की मृत्यु को व्यास ने मरण की शान्ति का एकमेव प्रतीक दिखाने में जो सूझ-बूझ दिखायी है, वह मात्र अद्वितीय है। कदाचित् विदुर की यही चाह थी कि अपनी मृत्यु के पश्चात् अपने अस्तित्व की धूमिल निशानी तक शेष न रहे। दुर्योधन को उपदेश देने के बहाने धृतराष्ट्र को लक्ष्य कर विदुर ने कहा था, ''पक्षी के पगचिह्न आकाश में अंकित नहीं होते; प्रज्ञावान् मुनियों के पगचिह्न धरती पर नहीं दिखाई देते।''

इस अवसर पर विदुर ने दाता के लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया; अन्य पारम्परिक नीतियों का विशद् विवेचन भी किया। क्या विदुर ने कभी सोचा था कि यह परम्परागत दृष्टान्त मेरे ही जीवन में विलक्षण रूप में साकार होगा ? उन की मृत्यु ने अमूर्त कामना को एक अभिनव आकार प्रदान किया। कैसा विस्मयजनक और प्रेरणादायक है विदुर का सौभाग्य जिस ने एक मानवता के प्रेमी, सरल हृदय मनुष्य को मनुष्य में ही विर्सजित कर दिया ! है कोई अन्य सन्त जो विदुर की भाँति सम्पूर्णतया मानवमय हो गया हो ? विदुर ने अध्यात्म की बाल की खाल खींचने का कभी उपक्रम न किया; फिर भी ब्रह्मज्ञान की अपेक्षा सनातन आचारमय नैतिकता को गौरवान्वित किया। मानव द्वारा प्रणीत सनातन सदाचार वैसा ही विशाल और कालातीत है, जैसा जीवन है। वैसा ही कालातीत और निगूढ़ है, जैसा मरण है। वह निगूढ़ है, परन्तु उन का साध्य है जो अन्तःकरण की सीधी प्रेरणा मानते हैं। विदुर ने मनुष्य के हृदय में स्थित इसी अबोल आस्था को प्रत्यक्ष में अनुभव किया और मानवता की खातिर द्वार खोल दिया। मनुष्य मूलतः मनुष्य है; उस का लक्ष्य भी मनुष्य ही है : विदुर के जीवन का यही सार है।

कामिनी

महाभारत में छटपटाते हृदयों की कमी नहीं है। व्यास ने नियति के उस उग्र-मधुर रूप की अथ से ले कर इति तक बराबर झलकियाँ दिखायी हैं, जो जीव-जन्तुओं के अंगोपांगों को आरपार बेधता है, जो जीवन के समस्त क्षितिजों को समभावपूर्वक स्पर्श करता है, जो सुख और दुख को हृदय से लगा लेता है। उन्होंने उस विशिष्ट रूप के मूर्त स्वरूप को एक व्यक्तित्व में ढाल कर नारी जाति के सनातन तेज और दौर्बल्य को द्रौपदी के चित्र में मनोज्ञता से अंकित किया है। प्रीति और रति, भक्ति और मैत्री, संयम और आसक्ति के द्वन्द्व का सूक्ष्म सन्तुलन जैसा द्रौपदी के व्यक्तित्व में निखर उठा है, वैसा किसी अन्य पौराणिक नारी में मुझे नहीं दिखा। इसी कारण द्रौपदी का अन्तःकरण एक अतिशय स्फूर्तिमय वस्तु है। वह विलक्षण पाशविक चैतन्य से भरा है। उस में अनाकलनीय बुद्धिमत्ता है; और है अतिशय विशुद्ध वासना की सीमातीत उत्कटता। ऐसी उत्कटता जो कई बार प्रचण्ड प्रक्षोभ बन जाती है। द्रौपदी के अन्तःकरण की छटपटी महाभारत की अपरूप अशान्ति का मूलस्रोत है।

व्यास ने इस अशान्ति को नितान्त सुन्दर रमणी-देह के अवगुण्ठन में प्रस्तुत किया है। उस के विपुल, काले, घुँघराले बालों की लहरों की भाँति उस के इर्द-गिर्द क्रोध की विशाल लहरें मँडराती हैं। इसी कारण द्रौपदी का व्यक्तित्व एक अलग व्यक्तित्व बन गया है। लगता है, जैसे हवा के झोंके में हिलती दीप-ज्योति हो! बल्कि यों कहूँ कि जब तक हवा चलती है, तब तक वह फड़फड़ाती हुई बलती है, और ज्यों ही संकट की हवाएँ गुज़र जाती हैं, वह जल कर बुझ जाती है: वह जल कर बुझी हुई, शान्त द्रौपदी मेरी दृष्टि में बस गयी है। द्रौपदी का जन्म—यज्ञ की ज्वाला में जन्म—उस के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्रतीक है। भीष्म की समाप्ति की दैवी योजना में शिखण्डी की भाँति द्रौपदी का भी हाथ रहा है। उस ने जन्म पाया है उपभोग के लिए नहीं; बल्कि जलने के लिए, और जलाने के लिए। परन्तु द्रौपदी मात्र दैवी शक्ति का मानुषिक प्रतीक नहीं है; वह सब प्रकार से मानवी है। उस में उत्कट, विराट् और प्राकृतिक नारीत्व आविष्कृत हुआ है; ऐसा आविष्करण अन्यत्र उपलब्ध होना मुश्किल है।

यह याज्ञसेनी रूपवती है। महाभारत की सभी नायिकाएँ सुन्दर हैं। उर्वशी, देवयानी, शर्मिष्ठा, शकुन्तला, दमयन्ती, तपती, सत्यवती, कुन्ती, गान्धारी और सुभद्रा

में से कौन ऐसी नारी है जो रूप के कारण विख्यात नहीं है ? व्यास ने इन सब के रूप-सौन्दर्य का विवेचन किया है; किन्तु इन सब के सौन्दर्य से द्रौपदी का सौन्दर्य बढ़-चढ़ कर है, मात्र अलौकिक है। सुभद्रा का सौन्दर्य कुन्ती के सौन्दर्य से अलग कर के बताया नहीं जा सकता। शकुन्तला और तपती संगमोत्सुक कुमारियाँ हैं; व्यास को उन में सौन्दर्य का समान आविर्भाव दिखायी पड़ा है। उपर्युक्त नारियों के सौन्दर्य की विशिष्टता का स्पष्ट संकेत व्यास नहीं दे पाये। सौन्दर्य वही है, समान है—भिन्न हैं देह के आकार और विभ्रम। और विभ्रम भी तात्कालिक ही हैं जहाँ के तहाँ भासमान हो जाते हैं, बस। उस सौन्दर्य की सफलता प्रिय के सहवास में प्रकट होती है; वही उस की परिणति है। उस सीमित क्षेत्र से परे सौन्दर्य का कोई प्रयोजन नहीं। किन्तु द्रौपदी के सौन्दर्य को व्यास ने एक विलक्षण अनुभूति के नशे में रचा है। द्रौपदी की भूमिका एक प्रधान भूमिका है, उस की आकृति इस चेतना द्वारा रचित नहीं है। बल्कि, यह भी कह लें कि उस को प्रधान भूमिका और उस के सौन्दर्य में विशेष घनिष्ठता भी नहीं हैं; जैसे सीता की है। रामायण का संघर्ष सीता के रूप-सौन्दर्य से उत्पन्न हुआ; द्रौपदी के सौन्दर्य ने महाभारत के विग्रह को परिचालित नहीं किया। द्रौपदी उस संघर्ष का केन्द्रीय बिन्दु नहीं है, केन्द्रीय बिन्दु है राजसत्ता।

महाभारत का नाट्य पारिवारिक विद्वेष-प्रसूत है। नायिका को प्राप्त करने की प्रतियोगिता से उस का सम्बन्ध नहीं है। फिर भी, द्रौपदी के जीवन में प्रतियोगिता के लिए स्थान नहीं है ऐसा थोड़े ही है। प्रतियोगिता स्वयंवर में थी ही; भाइयों ने एक द्रौपदी को बाँट लिया था। वहाँ भी कुन्ती के आदेश की अपेक्षा यही गर्भित लक्ष्य काम कर रहा था कि यदि द्रौपदी किसी एक को प्राप्त होगी तो औरों की बेचैनी बढ़ेगी, भाइयों की एकता चौपट हो जायेगी; और ऐसा होना नहीं चाहिए। जयद्रथ, कीचक आदि के बरताव में भी प्रतियोगिता से अधिक क्या है ? फिर भी प्रतियोगिता द्रौपदी के जीवन का केन्द्रीय बिन्दु नहीं बन पायी; वह महाभारत का केन्द्रीय बिन्दु कैसे बनती ? स्वयंवर-प्रसंग से ले कर राजसूययज्ञ तक प्रतियोगिता का जो भ्रम बना रहता है, उस का मुख्य कारण है राजसभा में द्रौपदी को विवस्त्र करने की घटना। रजस्वला द्रौपदी को भरी सभा में ला कर प्रतियोगिता के नाट्य को उपनाट्य का रूप दिया गया है। यदि जयद्रथ और कीचक जैसे पात्रों का निर्माण न किया जाता, तो उपनाट्य नीरस हो जाता। कृष्ण न होते तो प्रतियोगितातीत स्पृहा का सुकुमार स्वरूप प्रकट न हो पाता।

द्रौपदी की सुन्दरता की गठन ही निराली है। वर्ण भी न्यारा है। अन्य नायिकाएँ गौर वर्ण की हैं। गुलाबी कमल की भाँति हैं, धौत कमल की भाँति हैं या पीताभ कमल की भाँति हैं; परन्तु याज्ञसेनी की बात ही और है। वह भारतीय साँवले सौन्दर्य की परिसीमा है। वह शची के समान रूपवती है; और शची की विशिष्टता है रूपराशि की विपुलता। इन्द्राणी का यह पार्थिव स्वरूप नीलमणि की कान्ति ले कर

अवतीर्ण हुआ है। द्रौपदी के नयन कमल की पंखड़ी की भाँति विशाल और तेजस्वी हैं। उस के बाल सघन, लम्बे और घुँघराले हैं। द्रौपदी के सौन्दर्य का सारा रहस्य उस की देह के समानुपात में निहित है। वह लम्बी नहीं है, नाटी नहीं है। दुबली-पतली नहीं है, मेदुर भी नहीं है। तेज और सुकुमारता उस के अंग-प्रत्यंग में बिखरी है। उस का हर विभ्रम अतिविलोभनीय है। ऐसा हो ही नहीं सकता कि कोई उसे देखे और देख कर लुब्ध न हो जाये। द्रौपदी को सैरन्ध्री के रूप में देख कर, उस की मोहिनी छवि से परास्त हो कर सुदेष्णा ने उल्लेखनीय बात कही थी। वह बोली थी, "अरी, तुझे अपने महल में दासी बना कर कैसे रख लूँ? तेरे जैसा अनिन्द्य मोहक लावण्य मैं ने देखा ही नहीं। तुझे देख कर स्त्रियाँ तक मोहित हो जाती हैं, वहाँ पुरुष की क्या स्थिति होगी? अगर मेरे पति की दृष्टि तुझ पर पड़ जायेगी, तो मेरा साम्राज्ञीपन लुट जायेगा। तू जा, अपना रास्ता देख।"

ऐसी है यह काम-कलिका द्रौपदी, जो जन्मना जलता और जलाता रूप-सौन्दर्य ले कर आयी है। उस की भावनाओं में एक सम्पन्नता है और उद्वेलित वृत्तियों में एक गम्भीरता। बुद्धि से वह चपल है और सुसंस्कृत है। वासना उस की मुलायम है, पर प्राकृतिक है। व्यास ने द्रौपदी को कन्या अथवा कुमारी के रूप में न दिखा कर एकदम तरुणी के रूप में दिखाया है; इस प्रकार उन्होंने नारी के असंकीर्ण प्रमत्त यौवन का एक सर्वोत्कृष्ट प्रतीक प्रस्तुत किया है। द्रौपदी के तारुण्य को, उस के रूप के सुरम्य-भीषण परिपाक को उस के जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। जयद्रथ-वध इस रूप-विधान का अन्तिम सर्वोच्च बिन्दु है। आगे आता है युद्ध; युद्ध में द्रौपदी का कोई स्थान नहीं है। युद्ध में उस के बेटों की मृत्यु हो जाती है, फिर भी पुत्र-वियोग का शोकनाट्य व्यास की इच्छा से सुभद्रा के इर्द-गिर्द घटित होता है। उस के बाद द्रौपदी सिर्फ़ रानी बनी रही और व्यास ने उस के रूप-सौन्दर्य को प्रौढ़ता के, सफलता के आवरण में सदा के लिए ढक दिया।

द्रौपदी शुरू ही से तरुणी है। और है संगमोत्सुका। महाभारत की समस्त सुन्दर नायिकाओं की भाँति। उन की अपेक्षा द्रौपदी की विशेषता यह है कि वह जानती है कि मैं पुरुष को प्रभावित कर सकती हूँ। यह नारी-सुलभ अभिमान किसी न किसी रूप में उस की प्रत्येक प्रवृत्ति में प्रकट हो कर ही रहता है। यही वस्तुतः मध्यबिन्दु है महामानी द्रौपदी के स्वभाव का। कौन सा पुरुष मेरे विषय में क्या सोचता है, उस के आकर्षण को जीवित रखा जाये या नष्ट कर दिया जाये, इस सम्बन्ध में वह तुरत निर्णय कर सकती थी। कर्ण को उस ने देखते ही अस्वीकृत कर दिया। अर्जुन के विजयी होने पर, और यह जान कर भी कि वह दरिद्री ब्राह्मण-पुत्र है, द्रौपदी ने उस का वरण किया। यही नहीं, कुन्ती के आदेश को सत्य स्वरूप में साकार करने का केवल संयोग का सहारा ले कर वह पांच पतियों को स्वीकार करने को प्रस्तुत हो गयी। उस की धमनियों-नाड़ियों में तरुणाई बाँध तोड़ कर बह रही थी; तरुणाई के

योग्य वासना उस के शरीर में बल रही थी। सारे विश्व में द्रौपदी ही पाँच पतियों की पतिव्रता पत्नी है।

द्रौपदी का पातिव्रत ढकोसला नहीं है। परन्तु उस की वासना, उस की प्रणय-भावना अत्यन्त स्वयंशासित थीं। यदि तीक्ष्ण निर्णयशील बुद्धि तथा प्राकृतिक वासना में, रूपगर्विता के विषय में, मेल बिठाना है तो उस के लिए सब से उचित प्रतीक द्रौपदी ही है। इसी लिए व्यास ने उस के प्रणयानुभव की कुछ नितान्त कोमल छटाओं को मात्र सूचित कर उन्हें हमारी कल्पना के विश्वास पर छोड़ दिया है। मानो, उस निगूढ़ नाट्य का सुविस्तृत उल्लेख करना उस में निहित आकर्षण के शतवर्णी भाव को फीका कर देना है।

द्रौपदी के पाँच पति थे। इस विषय में अनेक अध्येताओं ने किसी न किसी प्रदेश में अथवा जाति में प्रचलित बहुपतित्व की प्रथा का उल्लेख कर उस की व्याख्या करने का प्रयास किया है। मुझे उन व्याख्याओं की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। द्रौपदी की इस अवस्था का जो उल्लेख मात्र संयोगवश महाभारत में आ गया है, उस में मुझे एक रहस्य दृष्टिगोचर होता है। कहना न होगा कि वह रहस्य भी व्यास ने इंगित भर किया है, और बात समाप्त कर दी है। कुन्ती और द्रौपदी सास-बहू हैं। अर्थात् समान वंश के संवर्धन का उत्तरदायित्व उठाये हुए हैं। कुन्ती अपने वरदान के बल पर देवताओं को कामपूर्ति के लिए बुला सकी थी। परम्परा में एक सूक्ति चलती है: 'द्रौपदी पाँच पुरुषों के लिए काम्य सिद्ध हुई—और कुन्ती भी।' इस सूक्ति ने, अनजाने, दोनों के मानसिक व दैहिक साधर्म्य का उल्लेख कर दिया है। दोनों के हृदयों की गढ़न इस विषय में एक समान थी। कुन्ती की नियोगज सन्तानों के वंश का पालन-पोषण द्रौपदी जैसी एक नारी करती है—यह मात्र संयोग नहीं है। यह एक अनुक्त संकेत है, जिसे व्यास ने इस प्रकार प्रयुक्त किया है कि सामान्यतः समझ में नहीं आ सकता: मुझे तो यही लगता है। क्योंकि इस धागे को ज़रा और ताना होता तो भी कुन्ती और द्रौपदी के व्यक्तित्व का समग्र सौन्दर्य तथा औचित्य विनष्ट हो जाता। इसी लिए व्यास ने कुन्ती के इर्द-गिर्द सतत दुख के चक्र को चलाया है और दिखाया है कि द्रौपदी इन्द्राणी का अंश है। इन्द्र अनेक हैं, इन्द्राणी एक है—यह पुरातन संकेत है; द्रौपदी के सन्दर्भ में व्यास ने कैसी चतुरता से उस का प्रयोग किया है! पाण्डव कुन्ती के बेटे थे, इसी कारण उन्हें द्रौपदी के साथ ऐसा समान सम्बन्ध स्थापित करना काम्य जान पड़ा, सम्भव प्रतीत हुआ—यह भी एक सत्य ही है।

द्रौपदी के स्वभाव में जो सकामता का एक प्रवाह है; परम्परा ने उसे बड़े जतन से पाला है: कहा गया है कि द्रौपदी के मन में कर्ण बस गया था और अन्त तक वह उसे भूल नहीं पायी; इसी लिए उस का पतन हो गया और वह स्वर्ग में सदेह न जा सकी। कृष्ण के समान द्रौपदी के विषय में भी परम्परा ने जो दृष्टि अपनायी है वह विशिष्ट है और महाभारत से अलग है। यह अवश्य है कि परम्परा ने श्रीकृष्ण के

चरित्र को समृद्धि दी है, द्रौपदी को नहीं दी। इतना ज़रूर किया है कि कर्ण को ले कर जो दोष आ गया था, उसे द्रौपदी को कृष्ण की बहन कह कर धोने का प्रयास किया है।

व्यास ने कृष्ण और द्रौपदी के सम्बन्धों को कोई विशेष आकार तो नहीं दिया, किन्तु उन्होंने एक अनाम सुकुमार रंग-छटा अवश्य भर दी है। जिस प्रकार द्रौपदी की नीलमणि सदृश कान्ति का चित्र आँख के सामने नहीं बनता, वह केवल भासमान होता है और हमें अनुभव होता है कि वह वर्ण अन्य वर्णों से भिन्न है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण और द्रौपदी के परस्पर आकर्षण का मात्र अनुभव ही हम कर पाते हैं। उन के आकर्षण में भक्ति, प्रणय और सख्य की त्रिवेणी प्रवाहित होती है। द्रौपदी विवाहिता है और आर्यधर्मानुगामी पतिव्रता होने के कारण इस नाट्य का एक अछूता धरातल दिख जाता है। उन के सम्बन्धों की बुनावट बड़ी महीन है, फिर भी अत्यन्त दृढ़ और वैसी ही विलक्षण सुकुमार। उन पर व्यास ने हलके हाथ से सुख का सिंचन किया है। कृष्ण के सान्निध्य में द्रौपदी अपनेआप खिलती है। उस के मन की गाँठें अपनेआप खुलती हैं। वह श्रीकृष्ण के प्रति उन्मुख होती है; उन पर निर्भर करती है। ठीक पाण्डवों की भाँति। परन्तु पाण्डवों की पत्नी के रूप में नहीं, कृष्ण की सखी के रूप में!

वस्तुतः कृष्ण द्रौपदी के देवर हैं। उम्र में अर्जुन से कुछ बड़े हैं। उस देवर के साथ जिसे पाण्डव श्रेष्ठ मानते हैं, जिस के हर आदेश का पालन करते हैं, एक नववधू की इतनी घनिष्ठता विस्मय उत्पन्न करती है। छोटे देवर के साथ ऐसे सम्बन्ध हों तो समझा जा सकता है। क्या विवाह-पूर्व कृष्ण से उस की निकटता थी? कैसे यह नाता बना? धूर्त हैं व्यास, उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया है। द्रौपदी और कृष्ण अथवा कृष्ण और कृष्णा के सम्बन्धों के उद्गम के विषय में व्यास ने मुग्धता रखी है। द्रौपदी के और पूर्णपुरुष श्रीकृष्ण के समग्र व्यक्तित्वों को ध्यान में रख कर दोनों में स्थापित सम्बन्ध की ओर देखते हैं, तो अनेक तर्क उभरते हैं। यदि व्यास मौन न रहते तो सम्भव है दोनों की मैत्री अधिक कलात्मक, सम्बन्धों के बन्धनों से मुक्त, शरीर अथवा समाज के रिश्तों से परे, होती। प्लेटो ने जिस प्रीति का वर्णन किया है, उस से किंचित् भिन्न; और अधिक भव्य। परन्तु आरम्भ के इतिहास के विषय में व्यास के चुप्पी साध लेने के कारण इधर-उधर बिखरे उल्लेखों के सहारे ही हम इस अपरूप मैत्री का साक्षात्कार कर पाते हैं।

द्रौपदी के विवाह से पहले दोनों में निकटता रही होगी, ऐसा नहीं दिखता। जो लोग द्रौपदी के स्वयंवर में सम्मिलित हुए थे, उन में श्रीकृष्ण भी थे। कहना न होगा कि वे तमाशाई बन कर नहीं गये थे। ऐसा भी नहीं कहते बनता कि अगर अर्जुन वहाँ न गया होता तो श्रीकृष्ण ने द्रौपदी का पाणिग्रहण न किया होता। कृष्ण नहीं जानते थे कि अर्जुन उपस्थित है। संयोग से पाण्डव ब्राह्मण-वेश धारण कर पहुँचे और कृष्ण ने उन्हें चीन्ह लिया। अर्जुन और कृष्ण में सदा सख्यभाव रहा;

अतः कृष्ण ने प्रतियोगी की भूमिका छोड़ कर अर्जुन को प्रण जीतने को प्रोत्साहित किया। कृष्णा के रूप-सौन्दर्य का, उस के स्वर की मंजुलता के प्रभाव का क्या कहना ! स्वयंवर के अवसर पर द्रौपदी ने इतना भर कहा, "मैं सूतपुत्र का वरण नहीं करूँगी !" हो सकता है, उस के स्वर ने कृष्ण को मुग्ध कर दिया हो। कृष्ण नाद-लुब्ध हैं; और द्रौपदी के स्वर का वर्णन करते हुए व्यास ने कहा भी है कि वह बोली तो जैसे 'वीणा के मधुर आलाप में गन्धार की सुन्दर मूर्च्छना' गूँज उठी ! कीचक-वध के प्रसंग में भी इसी स्वर ने भीम पर जादू कर दिया था। वन-प्रसंग में द्रौपदी आग उगल रही थी और युधिष्ठिर उस के स्वर के माधुर्य का पान कर रहे थे। निर्विवाद सत्य है कि उस के विवाह के पश्चात् कृष्ण के हृदय में उस के रूप का प्रलोभन पहले की भाँति न रहा; फिर भी जो आकर्षण दोनों के बीच पलता रहा, उस का उद्‌गम स्वर-माधुर्य में नहीं ही था, यह भी किस आधार पर कहूँ ? मित्रता बढ़ती है बार-बार होने वाले सम्भाषण के आधार पर। यद्यपि यह कहीं भी नहीं बतलाया गया है कि द्रौपदी के विवाह के पश्चात् मैत्री किस प्रकार उद्‌भूत हुई और संवर्धित हुई, फिर भी वस्त्र-हरण के क्षण में द्रौपदी भक्त बन कर श्रीकृष्ण को टेरती है और कृष्ण भी दैवी भूमिका में उतर कर चीर बढ़ा कर उस की लाज बचाते हैं। यह सब स्थूल चमत्कार है; और व्यास ने सारे प्रसंग को पार्थिवता की परत दे कर छिपा दिया है। छिपा नहीं पाये व्यास दो हृदयों के बीच लहलहाते भावों के अंकुर को, जो परत के भीतर बराबर पनपता रहा : वनपर्व में वही अंकुर फूलों के गझिन गुच्छों में खिला दिखाई पड़ जाता है।

पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में श्रीकृष्ण ने अपनी ओर से कहीं भी कोई बात नहीं कही है। जो शब्द सुनाई पड़ जाते हैं, वे सब द्रौपदी के मुख से निकले हैं। पहली क्रिया द्रौपदी की रहती है, तत्पश्चात् श्रीकृष्ण की। द्रौपदी की टेर प्रतीकात्मक है। श्रीकृष्ण आये; क्योंकि द्रौपदी बुलायी थी। पुकार उस की, प्रत्युत्तर उन का। वनवास के दौरान दिख गये श्रीकृष्ण, तो द्रौपदी से रहा न गया। अपनी समस्त व्यथा को कृष्ण के सामने उगल कर वह बोली, "कृष्ण, प्रणय के कारण मैं ने अपना दुख तुम्हारे सामने खोल कर रख दिया है।"

कृष्ण को देख कर द्रौपदी का दुःखावेग उमड़ा। उसी के प्रभाव में द्रौपदी के मुख से निकल ही तो पड़ा, "कृष्ण, मैं पाण्डवों की भार्या हूँ, तुम्हारी सखी और धृष्टद्युम्न की भगिनी हूँ; फिर भी मुझे राजसभा में घसीट कर ले जाया गया ?" यह कह कर भी वह चुप नहीं रहती। सन्तप्त हो कर कहती है, "मेरे कोई पति नहीं हैं, पुत्र नहीं हैं, सगे-सम्बन्धी नहीं हैं, भाई नहीं हैं, पिता नहीं हैं—और कृष्ण, तुम भी नहीं हो !"

"तुम भी नहीं हो !" शब्दों में द्रौपदी ने कृष्ण के विषय में निस्सन्देह एक अननुभूत भाव व्यक्त कर दिया है।

यही नहीं, वह दुबारा कहती है, "कृष्ण, चार कारणों से तुम सदा रक्षा करते हो मेरी। नाते के सम्बन्ध के कारण, अपनी महानता के कारण, सख्य के कारण और प्रभुत्व के कारण।"

बहुत वर्षों बाद। युद्ध समाप्त हो चुका है; अश्वमेधयज्ञ का प्रारम्भ होने को है। पाण्डवों का साम्राज्य स्थापित हो चुका है। पाण्डव, द्रौपदी और श्रीकृष्ण सुखवार्ता कर रहे हैं। युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से एक प्रश्न किया। युद्ध समाप्त हो गया, पाण्डव प्रसन्न हैं और फिर भी अर्जुन को अश्वमेध के आयोजन में देश-विदेश के चक्कर लगाने पड़ रहे हैं; दुबारा युद्ध करने के लिए सुसज्जित होना पड़ रहा है। अर्जुन को मारा-मारा फिरते देख युधिष्ठिर उद्विग्न हो उठे। बोले, "कृष्ण, हम पाण्डवों में अर्जुन ने बहुत दुख भोगा है। क्यों इसी बेचारे को भाग-दौड़ करनी पड़ती है? ऐसा क्या है इस के शरीर में कि हर वार इसी को दुख का सामना करना पड़ता है? दर-दर भटकना पड़ता है?" श्रीकृष्ण की विनोद-वृत्ति जग पड़ी। प्रश्न की गम्भीरता को जैसे फूँक में उड़ाते हुए कहने लगे, "वैसे तो कोई बात नहीं है; लेकिन अर्जुन की पिंडलियाँ हैं न, वे दूसरों से ज़्यादा मोटी-तगड़ी हैं। इसलिए अर्जुन को घूमना पड़ता है--"

साधारण सामुद्रिक संकेत है कि जिस की पिंडलियाँ मज़बूत होती हैं उस के भाग्य में भटकना लिखा होता है। लेकिन जब स्वयं श्रीकृष्ण अर्जुन के सम्बन्ध में ऐसी बात कहते हैं तो द्रौपदी को बुरा लगता है। या कह लीजिए, वैसा बहाना बनाती है। व्यास के शब्दों में, "कृष्णा द्रौपदी ने कृष्ण की ओर क्रोधपूर्वक वक्र कटाक्ष किया। श्रीकृष्ण ने भी उस के प्रणय-भाव को स्वीकार किया। कृष्ण अर्जुन के सखा हैं, द्रौपदी के सखा हैं; वे तो मानो मूर्तिमान् अर्जुन ही थे।" एक छोटा सा और हलका-फुलका सा जीव प्रसंग है—मात्र एक प्रसंग, द्रौपदी के सम्बन्ध में मात्र एक उल्लेख; और इस के बाद व्यास ने श्रीकृष्ण और द्रौपदी के सम्बन्धों का समापन कर दिया है। उन के सम्बन्धों को हम पहली बार भक्ति के सीधे आवरण में और अन्तिम बार अर्जुन के सखा के वक्र मिस से देखते हैं। इस प्रकार व्यास ने एक ऐसी मित्रता को अर्धस्फुट रूप में दिखाया है, जो रहस्य में लिपटी है, जो विशुद्ध है, प्रणयपूर्ण है और अशरीरी है। कृष्ण द्रौपदी की इस वृत्ति को भली भाँति जानते थे, शायद इसी लिए कर्ण को प्रलोभन देते समय वे कहते हैं, "तुम पाण्डवों के भाई हो, उन्हीं के पक्ष में क्यों नहीं आ जाते? द्रौपदी तुम्हारा वरण करेगी।" कैसे कहें कि परम्परा ने द्रौपदी का कर्ण के प्रति जो आकर्षण दिखाया है, उस का बीज उक्तकोटि के उल्लेखों में बिलकुल नहीं था?

व्यास ने द्रौपदी के व्यक्तित्व को चार भूमिकाओं में अवतीर्ण कराया है: प्रिया, सुन्दरी, पतिव्रता और पण्डिता। द्रौपदी तेजस्विनी नारी थी, मानिनी थी परन्तु ऐसा नहीं होता कि उस की शालीनता का अवगुण्ठन सरक जाये। कुलीना नारी को घर

की चारदीवारी के भीतर बँध कर रहना ही पड़ता है; द्रौपदी ने उस जीवन को भी शिरोधार्य माना। उस का व्यक्तित्व अन्तःपुर के परिसर में खिला। सभा में खींच लाया उसे दुःशासन। ऐसे समय, जब नहीं लाना चाहिए था; ऐसे वेश में, जिस में नहीं आना चाहिए था। वह कृष्णा जिसे स्वयंवर के अवसर पर राजा-महाराजाओं ने देखा था, कौरवों की सभा में ऐसे पति की पत्नी के रूप में जो द्यूत में हार चुका था, कौरवों की दासी बना कर घसीट कर लायी गयी। उस के बालों को पकड़ कर दुःशासन ने खींचा; उस के नारीत्व का अपमान करना चाहा। द्रौपदी सर्वसामान्य नारी की तरह चीत्कार कर उठी। श्रीकृष्ण ने उस की लाज रखी। सारी सभा निस्तब्ध थी। उस के पावित्र्य से अभिभूत थी। और द्रौपदी ने अपने को सँभाला। उस ने युधिष्ठिर से परन्तु सभा को लक्ष्य कर प्रश्न किया, "तुम ने पहले किस को दावँ पर लगाया ? खुद अपने को या मुझे ?"

इस प्रश्न का उत्तर आसान था; निर्णय उतना ही मुश्किल। युधिष्ठिर ने पहले अपने को दावँ पर लगाया था, उस के बाद द्रौपदी को। चतुरा द्रौपदी ने तत्काल प्रश्न किया कि स्वयं हारा हुआ मनुष्य दूसरे पर कितना अधिकार रखता है। युधिष्ठिर के अधिकार की तो धज्जियाँ उड़ ही रही थीं !

इसी सभा में द्रौपदी ने दुख का पहला आवेग पी लिया; और उस के भीतर सोयी हुई नारी जाग उठी। अब वह कामिनी नहीं रह गयी थी; हाड़-मांस की सजीव स्त्री थी। शोक और क्षोभ की तूफ़ानी लहरों ने ज्वालामुखी के तप्त रस की भाँति उस के मुख से जो शब्द निःसृत कराये हैं, उन के तेज को मापते समय हिमालय भी बौना ही प्रतीत होगा। उस के शब्दों की तीक्ष्णता ने मनुष्य के लौकिक अभिमान की परतें चीर कर रख दीं। ऐसे, जैसे बीज के बाहर के छिलके को उधेड़ कर रख दिया गया हो ! शब्द, जो संसार के बड़े से बड़े वक्तव्य के सामने बेजोड़ साबित होते हैं; शब्द जो उपनिषदों तक का पानी उतार देते हैं—वे शब्द लहलहाते अँखुए की भाँति फूट पड़े। डूब गयी सारी वेदना, तिरोधान हो गया घोर अपमान और शब्दों ने सत्य के साक्षात्कार की सुन्दर प्रतिमा को साकार कर दिया। कैसा है संयोग कि स्वयं अग्नि के गर्भ से निकली एक कामिनी शोक-क्षोभ की ज्वालाओं में जलते समय इन शब्दों को अपने मुख से कहती है, "जहाँ वृद्ध नहीं हैं, वह सभा नहीं है। जो धर्म की व्याख्या नहीं करते, वे वृद्ध नहीं हैं। जिस में सत्य नहीं है, वह धर्म नहीं है। जिस में छल-कपट है, वह सत्य नहीं है।"

कौन कर सकता था द्रौपदी को छोड़ कर सत्य की यह मर्मस्पर्शी व्याख्या ? सारी परम्पराएँ टूट कर बिखर गयी थीं उस दिन कौरवों की राजसभा में। भलमनसी भय से काँप रही थी। क्रूरता न्याय बन आयी थी। लज्जा, संकोच, बल्कि मामूली सभ्यता तक देखते-देखते कपूर की तरह भक से जल कर भस्म हो चुकी थी। सिर्फ़ द्रौपदी के वेदना भरे हृदय ने पहचाना कि धर्म क्या है, सत्य क्या है। एक क्षण में

द्रौपदी की वाणी ऋषि की वाणी बन गयी और उस ने सत्य में निहित करुणा के तत्त्व को निस्सन्दिग्ध शब्दों में समस्त पण्डितों को, वीर पुरुषों को, जिज्ञासुओं को कह सुनाया। जितना अधिक विचार करती हूँ, उस के शब्दों का निनाद अधिकाधिक गहन गम्भीर होता जाता है।

अकेला विकर्ण द्रौपदी के प्रश्न का सीधा उत्तर देने का साहस कर पाया था, जिस ने भाइयों की भर्त्सना करते हुए निर्णय दिया था कि द्रौपदी दासी नहीं है। धृतराष्ट्र भी प्रभावित हुए और द्रौपदी को तीन वर देने चले। अभिमानिनी द्रौपदी ने केवल दो ही स्वीकार किये। उस ने माँगा कि पतियों को दास्यमुक्त किया जाये; और स्पष्ट कहा कि इस से अधिक माँगना उचित नहीं होगा। यद्यपि भीम ने उद्वेगपूर्वक कहा था, 'तो पाण्डवों का उद्धार अन्ततः एक नारी ने ही किया!'' फिर भी वह विकर्ण का उपकार न भूला। भीम जिस ने दुर्योधन को मृत्यु के समय लातों से मारा था, उस के श्राद्धकर्म के निमित्त कानी कौड़ी तक देने से इनकार करने के लिए युधिष्ठिर से कहा था, जब विकर्ण मरा तो फूट-फूट कर रोया था।

वनवास में एक दिन द्रौपदी ने क्रोध में आ कर युधिष्ठिर को खूब फटकारा। पाण्डवों का दारिद्र्य उस से नहीं सहा जाता था। इस से यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि वह पतियों की दरिद्रता से ऊब चुकी थी या भोगलोलुप थी। पाण्डवों से विवाह किया था, उस समय भी वे दरिद्री ही तो थे। पहली रात वह उन के पाँयते धरती पर सोयी थी। उस में भी सन्तोष माना था। वनवास के दिनों में उस का गृहिणीत्व अत्यन्त खुल कर आया है, निखरा है। वहीं उस ने सत्यभामा को पत्नी के कर्तव्यों का रहस्य बतलाया है; सेवाधर्म की महिमा गायी है। परन्तु वनवास में द्रौपदी विरागोन्मुख नहीं थी। विरक्ति से द्रौपदी कोसों दूर रही; वह उस का गुण ही नहीं है। सिंगार-पटार का शौक़ उसे है, सामान्य नारी की भाँति वन में भी शौक़ चर्राता है। वन में वह पतियों से गहने नहीं माँगती, वसन नहीं माँगती। माँगती है सहस्रदल वाले रंगबिरंगे कमल के फूल! भीम गन्धमादन पर्वत पर खिले कमलपुष्पों को तोड़ने के लिए जाता है। कैसा ही हठ हो द्रौपदी का, भीम उसे पूरा करने के लिए सदा तत्पर है। विराटपर्व में भीम द्रौपदी से कहता भी है, "तुम अपनी व्यथा-वेदना, आवश्यकता, ग़रज़—जो भी हो मुझे बताती चलो। तुम्हारे दुखों को मुझ से ज्यादा कोई नहीं समझ सकता।"

द्रौपदी अपने पतियों से एक समान व्यवहार नहीं करती; प्रत्येक के साथ अलग तरीक़े से बरताव करती है। युधिष्ठिर के लिए वह आदेशपालन करने वाली दासी है—यों, उन के प्रति क्रोध कुछ कम नहीं है। वन में दोनों का जो सम्भाषण होता है वह पति-पत्नी के बीच होने वाली कानाबाती नहीं है। वह वाद-विवाद है जो सब के समक्ष ज़ोर-शोर से होता है। द्रौपदी अर्जुन की प्रेयसी है। अर्जुन के प्रति उस का आकर्षण स्वाभाविक ही है। "पाँचों भाई भीख बराबर-बराबर बाँट लो!" इस आदेश

को दे कर जब कुन्ती बाहर आयी और सारी स्थिति की विचित्रता उस के सामने प्रकट हुई तो उसे दुख हुआ। बोली, "यह क्या कह दिया मैं ने ? तुम्हें अर्जुन जीत कर लाया है। तुम वास्तव में उसी की हो; होना भी चाहिए। मुझे मालूम होता पहले से, तो ऐसा न कहती।" अर्जुन और द्रौपदी का प्रेम-प्रसंग तो दर किनार, मामूली सम्भाषण तक नहीं दिया है व्यास ने। भीम की स्वामिनी है द्रौपदी। जब-जब उसे प्रचण्ड क्रोध आता है अथवा क्षोभ उत्पन्न होता है तो सिर्फ़ भीम उस का साथी होता है। ऐसा अन्य कोई नहीं कर पाता। नकुल और सहदेव के लिए द्रौपदी के हृदय में अथाह ममता है। वन की ओर प्रस्थान करते समय कुन्ती द्रौपदी से कहती है, "मेरे इन दो बेटों को तुम अपने हाथ से खिलाना।" परन्तु नायक की दृष्टि से वे महाभारत में कोई महत्त्व नहीं रखते; अतः उन के और द्रौपदी के सम्बन्धों का विशेष महत्त्व नहीं माना जा सकता।

युधिष्ठिर ने द्रौपदी के लिए तीन विशेषणों का प्रयोग किया है : प्रिया, परमदर्शनीया तथा पतिव्रता। इन विशेषणों के कारण द्रौपदी और उस के किसी भी पति के बीच स्थित सम्बन्धों में कोई दुराव नहीं आया। एक विशेषण और है : 'पण्डिता'—इस की पूरी परीक्षा आगे युधिष्ठिर के साथ जो संघर्षयुक्त सम्बन्ध स्थापित हुआ, तभी हुई। लौकिक दृष्टि से देखें तो द्रौपदी ने जो भी कहा, वह सब चतुरता के अन्तर्गत आता है परन्तु असली पाण्डित्य, असली सूझ-बूझ और समझदारी कैसे बिलकुल अलग होती हैं यह तो युधिष्ठिर ने ही द्रौपदी को बार-बार दिखाने का प्रयत्न किया है। युधिष्ठिर जितने शान्त रहते थे, सहिष्णुता बरतते थे, द्रौपदी उतनी ही अधिक चिढ़ा करती थी। जब चिढ़ जाती थी तो भीम उस का समर्थन करता था। अन्त में युधिष्ठिर की व्यवहार-पद्धति ही उपयुक्त सिद्ध होती थी। द्रौपदी ने एक क्षण की उद्रेकावस्था में सत्य के दर्शन किये थे किन्तु उस सत्य को वह अपने दैनिक आचरण में नहीं उतार पायी। उस मार्ग के राही थे मात्र युधिष्ठिर, अकेले।

वन-प्रसंग में द्रौपदी ने युधिष्ठिर की खूब खबर ली। राजसभा के प्रसंग में युधिष्ठिर ने प्रतिकामी के साथ सन्देश भेजा था, "तुम रजस्वला होओ चाहे एकवस्त्रा होओ, तुम यहाँ आओ और अपने श्वसुर के सामने उपस्थित होओ।" द्रौपदी यह सुन कर जड़ हो गयी थी। वह स्वयं सभा में नहीं गयी; न प्रतिकामी उसे बलपूर्वक ले जाने का साहस कर पाया। द्रौपदी का प्रश्न भी युधिष्ठिर के प्रति उन्मुख था। यद्यपि द्रौपदी ने युधिष्ठिर को याद नहीं दिलायी कि मेरे वर के कारण ही तुम दास्यमुक्त हो पाये हो, किन्तु उस का क्रोध अन्त तक शमित न हो सका। वनवास में उन ने कहा था, "दुर्योधन का कलेजा तो खैर है ही लोहे का बना; इसी लिए तो आप के सदृश धर्मबुद्धि श्रेष्ठ मनुष्य को उस ने कटु वचन कहे। आप राजाधिराज हैं; आज जंगल में चटाई पर बैठे हैं। आप को इस स्थिति में देख कर किसे क्रोध नहीं आयगा ? भीम जैसे राजकुमार और अर्जुन जैसे योद्धा आज प्यास से तड़प रहे हैं, भूख से बिलबिला

रहे हैं—और वे दोनों जो कनिष्ठ हैं, धूल चाट रहे हैं। गुस्सा क्यों नहीं आयेगा ? मैं द्रुपद की पुत्री, पाण्डु की बहू, धृष्टद्युम्न की बहन और आप की रानी—मुझे वनवासिनी के रूप में देख कर आप को क्यों नहीं क्रोध आता ? अपने भाइयों की दीन स्थिति को देख कर आप को क्यों नहीं खेद होता ? क्षत्रिय के लिए क्रोध अनिवार्य माना गया है; पर, आप का ढंग तो सारी दुनिया से अलग है। आप शत्रु को क्षमा न करें। क्षमा किसे करें ? उस व्यक्ति के अपराधों को, जिस ने कभी उपकार किया है। क्षमा करें बुद्धिहीनों को, आश्रितों के अपकार्यों को। अनजाने हो जाने वाले पाप क्षमा करें। लेकिन दुर्योधन लगातार अपराध कर रहा है। वह लोभी है, पापी है, उसे क्षमा न करें। क्षत्रिय को अवसर के अनुसार मृदु होना चाहिए और उग्र रूप धारण करना चाहिए। मुझे मालूम है कि मुलायम पड़ कर हम जो पाते हैं, वह कठोर हो कर नहीं मिलता। परन्तु मुलायमत वहीं बरतनी चाहिए, जहाँ उस की आवश्यकता हो। जहाँ उग्रता के बिना कुछ हो ही नहीं सकता, वहाँ नरमी का क्या काम ?" प्रह्लाद-बलि-संवाद का आधार ले कर इस क्रुद्ध पण्डिता ने पति के सामने वह पेंच डाला कि युधिष्ठिर अवाक् हो गये।

पर, धीरे-धीरे हमेशा की तरह बोले, "तुम कुछ भी कहो द्रौपदी, परन्तु क्षमा सब से बड़ी वस्तु है। क्षमा की नींव पर ही संसार खड़ा है। मैं यह कह कर कि मुझे राजसिंहासन दो, लोलुपता का आखेट नहीं होना चाहता। बुद्धि को भ्रष्ट नहीं करना चाहता। समय हमारे विरुद्ध है। भरत-वंश का पतन हो रहा है। मैं साफ़ देख रहा हूँ कि उसे लुढ़कने से बचाना मुश्किल है। मैं इसी लिए जल्दबाज़ी नहीं करता।"

युधिष्ठिर ने काश्यप-गाथा पर आधृत क्षमा-सूत्र कहा तो द्रौपदी फट पड़ी। उस ने विधाता को दोष दिया और बोली, "दण्डवत् है उस विधाता को जो आप को भ्रम में डाल कर घुमा रहा है। क्या कहने हैं : धर्म की रक्षा करें तो धर्म हमारी रक्षा करता है ! आप ने यज्ञ-याग किया, दान दिया, सत्य का पालन किया—क्या फल मिला ? आप ने परछाईं का पीछा करने के समान धर्म का पीछा किया। फल ? यह दीनता, यह दुख।"

युधिष्ठिर ने सुना और धीरे-धीरे कहा, "द्रौपदी, तुम्हारा कहना उचित है, मधुर है। लेकिन तुम भूलती हो। तुम विधाता को दोष न दो। तुम्हारे विचारों में मुझे नास्तिकता जान पड़ती है। फल की इच्छा रख कर मैं धर्म के मार्ग पर नहीं चलता। धर्म के साथ वही लोग सौदेबाज़ी करते हैं जो वस्तुतः नीच होते हैं। देवताओं के विषय में सन्देह मत करो, उन्हें दोष भी न दो। जानती हो ? अगर धर्म अफल हो जायेगा तो संसार डूब जायेगा। मनुष्य पशु हो जायेगा। विद्याएँ विनष्ट हो जायेंगी। तप, ज्ञान, दान निष्फल हो जायेंगे। निर्वाण निरर्थक माना जायेगा। ये सब जब तक हैं, तब तक देवता भी हैं। उन की करनी अगाध है। इसी लिए तुम उन की निन्दा मत करो।"

यह सीधा-सरल उत्तर सुन कर द्रौपदी डगमगा उठी; कहने लगी, "मैं धर्म की निन्दा नहीं करती। ईश्वर को भी क्या दोष दूँ? लेकिन दुख ने मुझे विदीर्ण कर दिया है। मैं बड़बड़ाती हूँ, रोती हूँ—आप ध्यान न दें।" फिर यह सोच कर कि इस विचित्र स्थिति में चुप रहूँगी तो यह मनुष्य ऐसे ही विषाद में डूबा रहेगा, द्रौपदी ने युधिष्ठिर को बृहस्पति-नीति के वचन सुनाये। वह बोली, "विधाता को भी सृष्टि-निर्माण का कर्म करना पड़ता है। कीड़ों-मकोड़ों तक को जीने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। जो कुछ नहीं करता, पाँव पसार कर सो रहता है वह कच्चे घड़े की तरह पानी में घुल कर नष्ट हो जाता है। तिल में तेल होता है, गाय में दूध, काष्ठ में आग—लेकिन उन्हें बाहर लाने की योजना बनानी पड़ती है, कर्म करना होता है। परमेश्वर तभी सिद्धि देता है। आलस्य के माथे पर दारिद्र्य लिखा है। हल चलाने, बीज छिटकाने के बाद कृषक कहे कि मैं ने अपना काम किया, शेष पर्जन्य-देवता के हाथों में, तो ठीक! समुद्र को हटाया जा सकता है, पर्वत को तोड़ा जा सकता है; दुर्योधन किस खेत की मूली है?"

वह चुप हो गयी और भीम को बोलने को उत्साहित किया। उस ने बेधते हुए कहा, "मैं एक और एक यह, आप के प्रतिविन्ध्य की माता, हमीं दोनों आप की विपदा को देख कर क्रुद्ध होते हैं। दुर्योधन के सम्राट् बन जाने पर हमें कुछ नहीं मिलने चला है। गौ को सहलाइए तो वह दूध देती है, पुण्य दिलाती है। गधे को सहला कर क्या मिलेगा? मात्र विष्ठा!"

युधिष्ठिर ने निर्णय दिया, "मैं ने राजसभा में वनवास की प्रतिज्ञा की थी। मैं सत्य को नहीं छोड़ूँगा। प्रतिज्ञा मुझे प्राणों से प्रिय है। तुम लोग कृषक का दृष्टान्त दे रहे हो न? तो कृषक की भाँति फल की ज़रा तो प्रतीक्षा करो।"

यह प्रसंग यहीं समाप्त हो जाता है; परन्तु द्रौपदी और भीम के हृदय में धधकता क्रोध ठण्डा नहीं होता। युधिष्ठिर शान्तिपूर्वक विचार करते हैं और अर्जुन को अस्त्र-प्राप्ति के लिए भेजते हैं।

आगे चल कर जब जयद्रथ द्रौपदी का अपहरण करता है तो युधिष्ठिर विचार प्रस्तुत करते हैं, "जयद्रथ दुःशला का पति है। दुःशला हमारी बहन है। वह भाग गया, जाने दो उसे। द्रौपदी को हम लौटा लाये हैं न?" द्रौपदी इस तर्क से बिलकुल सहमत नहीं होती। वह भीम और अर्जुन को जयद्रथ का पीछा करने के लिए भेजती है। वे उसे पकड़ कर ले आते हैं तो उस से युधिष्ठिर के पाँव पर नाक घिसवाती है। वध करने के बजाय उस के सिर की पाँच पट्टियाँ उतरवा कर उसे निकाल देती है।

विराटपर्व में वह साफ़-साफ़ कह देती है, "जिस का पति युधिष्ठिर जैसा पुरुष हो, उस का सुख से क्या वास्ता?" देखते-देखते द्रौपदी का सन्तुलन टूट जाता है और वह चिनगारी बन जाती है। यहाँ तक कि कीचक-वध के बाद जब बृहन्नला अर्जुन उस से पूछता है, "तुम कीचक से किस प्रकार मुक्त हुईं? कीचक कैसे मरा?

मुझे सब बताओ; मैं जानने को उत्सुक हूँ।" तो द्रौपदी उसे फटकारती है, "बृहन्नले, तुम्हारा सैरन्ध्री से अब क्या काम है ? तुम तो सुख से अन्तःपुर में बैठी रहती हो। सैरन्ध्री का दुख तुम्हारे बाँटे नहीं पड़ा, इसी लिए हँस कर पूछती हो।"

द्रौपदी की बुद्धि की यह अवस्था छोटे-मोटे प्रसंगों में अत्यन्त सन्तुलित रूप में दिखा कर व्यास ने हमारे मन में बसी पार्थिव सौन्दर्यवती द्रौपदी की मोहिनी मूर्ति को पोंछ दिया है। वे द्रौपदी को साम्राज्ञी के पद पर आसीन कराते हैं। उसे पार्थिव सम्पूर्णता का समस्त श्रेय देते हैं। चाहे द्रौपदी सम्बन्धी हर एक प्रसंग में हम डूब जायें परन्तु हमारे मन पर द्रौपदी का कोई संस्कार चिरकालिक बन कर न छा पाये— व्यास ने उस के विषय में यही संकेत माना है। भारतीय जनमानस में द्रौपदी ने सीता या सावित्री की भाँति चिरन्तनता नहीं पायी। वह एक कमनीय कलिका है जो सामान्य मनुष्य की पहुँच से परे है। वाद-विवाद के क्षणों में वह प्रत्येक नारी के अन्तःकरण में जन्म लेती है; किन्तु भारतीय नारी के संस्कार-जीवन में उस का स्थान अत्यन्त गौण है। वह जागृत होती है कृष्णकथा के सहारे, पाण्डवकथाओं के सहारे। हमारे सामने युधिष्ठिर का स्वतन्त्र आदर्श बना रहता है। गीता के कारण अर्जुन की जिज्ञासा हर मुँह की बोली बन ही चुकी है। द्रौपदी का व्यक्तित्व उन दोनों के समान कमनीय तो है; किन्तु प्रेरणादायक नहीं है। उस में निहित पार्थिवता का विलक्षण चेतनामय स्रोत ही ऐसा है जो कुछ ही लोगों को कभी किसी क्षण में दृष्टिगोचर हो सकता है।

(१)

परिशिष्ट

(अ) प्रस्तावना में प्रयुक्त ग्रन्थ :

१. श्रीवाल्मिकीरामायणम्.
२. आनन्द कुमारस्वामी : फ़िगर्स ऑफ़ स्पीच ऑर फ़िगर्स ऑफ़ थॉट; लण्डन, १९४६.
३. रे लिविंग्स्टन : द ट्रॅडिशनल थिअरी ऑफ़ लिटरेचर; मिनिआपॉलिस, १९६२.
४. एरिक गिल : आर्ट; लण्डन, १९३४.
५. क्लाइव बेल : आर्ट; लण्डन, १९४९.
६. फ़्रेडरिक स्पीगलबर्ग : ज़ेन, रॉक्स ॲण्ड वॉटर्स; न्यूयॉर्क, १९६१, इण्ट्रोडक्शन बाई सर हर्बर्ट रीड.
७. गेडीज़ मॅकग्रेगर : एस्थेटिक एक्स्पीरिएन्स इन रिलिजन; लण्डन, १९४७.
८. केनेथ वॉकर : लाइफ़्स लॉङ्ग जर्नी; लण्डन, १९६०.
९. जॉन स्टुअर्ट : द आर्टिस्ट ऑफ़ लाइफ़ (हॅवेलॉक एलिस); लण्डन, १९५९.
१०. आन्द्रे माल्रो : द मेटेमॉर्फ़सिस ऑफ़ द गॉड्स (स्टुअर्ट गिल्बर्ट द्वारा अनुवादित); लण्डन, १९६०.
११. रेनीरो नोली (Gnoli) : द एस्थेटिक एक्स्पीरिएन्स अकॉर्डिंग टु अभिनवगुप्त; रोम, १९५६.
१२. मिग्वेल डि उनामुनो : ट्रॅजिक सेन्स ऑफ़ लाइफ़ (ट्रान्सलेटेड बाई जे. ई. क्रॉफ़र्ड); फ़्लिच, १९५४.
१३. गिसेप तुची : बुद्धजयन्ती (लेख); ईस्ट ॲण्ड वॅस्ट, १९५४.
१४. डी. एच. लॉरेन्स : सिलेक्टेड लिटररी क्रिटिसिज़्म; लण्डन, १९६१.
१५. स्विनबर्न : ए सिलेक्शन कम्पाइल्ड ॲण्ड विद ॲन इन्ट्रोडक्शन बाई एडिथ सिटवेल; लण्डन, १९६१.
१६. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : प्राचीन साहित्य (मराठी अनुवाद : रामचन्द्र बलवन्त आठवले); पुणे, १९४४.

(आ) महाभारत का सब से प्राचीन कलकत्ता संस्करण, तथा चित्रशाला प्रेस, पुणे का नीलकण्ठ की टीका वाला संस्करण का उपयोग किया गया है।

द-जे ४६४५
015: 1A2
BHA
1973 A.D.
(9)

वाल्मीकिविद्यापीठपुस्तकालयः

प्रत्यावर्तनतिथिः

५६३८

AUTHOR दुर्गा भागवत

TITLE व्यास पर्व

015:1A2
BHA
1973.A.D.

५६३८

महेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालय
वाल्मीकि विद्यापीठ
पुस्तकालय

भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्री का
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक - हितकारी
मौलिक-साहित्य का निर्माण

●

संस्थापक
श्री शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

●

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५